धम्म-सदगं

[धर्म-शतक]

:: ग्रन्थकार ::

श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी मुनिराज

:: प्रकाशक ::

समर्पण समूह, भारत

जैनं वचनं सदा वंदे

आशीषानुकंपा	:	पट्टाचार्य 108 श्री विशुद्धसागर जी यतिराज
ग्रन्थ	:	धम्म-सदगं [धर्म-शतक]
कृतिकार	:	श्रुतसंवेगी श्रमणरत्न श्री आदित्यसागर जी मुनिराज
संपादन	:	श्रुतप्रिय श्रमणरत्न श्री अप्रमितसागर जी मुनिराज
पूर्णावलोकन	:	सहजानंदी श्रमणरत्न श्री सहजसागर जी मुनिराज
प्रथम संस्करण	:	4000 प्रति / 2024
प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान	:	समर्पण समूह, भारत भोपाल – 91790-50222 जबलपुर – 98276-07171 इन्दौर – 98260-10104 इन्दौर – 94253-16840 भीलवाड़ा – 63766-49881
मुद्रक	:	गुरु आशीष ग्राफिक्स अंकित जैन शास्त्री, मड़देवरा, सागर मो. : 9755286521, 8302070717

विषयानुक्रमणिका

विषय	गाथा	पृष्ठ
शुभाशीष		IX
प्रस्तावना		X-XXXI
धर्मवचन		XXXXII
मंगलाचरण	1	1
जिनवचन-वंदना	2	3
प्रतिज्ञा/ग्रन्थनाम	3	5
धर्म का स्वरूप	4	6
सम्यक्त्व का लक्षण	5	8
सम्यक्त्व के भेद	6	9
सम्यक्त्व के 44 दोष	7	14
सम्यग्दृष्टि के 77 गुण	8	15
धर्म का मूल सम्यक्त्व	9	25
त्रैलोक्य को प्रकाशित करनेवाला रत्न	10	26
सम्यक्त्व सहित अल्पज्ञान भी सारभूत	11	27
सम्यग्ज्ञान का लक्षण	12	28
सम्यग्ज्ञान के भेद	13	29
सम्यग्ज्ञान की परिभाषा और सामान्य भेद	14	31
ज्ञानधारण का उद्देश्य	15	33
सम्यक्चारित्र का लक्षण	16	34

सम्यक्चारित्र के भेद	17	35
मनुष्य जीवन का सार सम्यक्त्व	18	37
भ्रष्टों में भ्रष्ट	19	38
जीवद्रव्य और अन्य द्रव्यों का धर्म	20	39
उत्तमधर्म के भेद	21	40
धर्म के दो भेद	22	42
श्रावक धर्म के त्याग बिना मोक्ष नहीं	23	43
रत्नत्रय से ही मोक्ष	24	44
स्याद्वादज्ञान से ही सम्यग्ज्ञान	25	45
स्याद्वाद को धारण करो	26	46
धर्म का स्वभाव और स्वभाव के एकार्थी नाम	27	47
धर्म का मूल अहिंसा	28	48
धर्मरूपी वारिधि के रत्न	29	49
रक्षकों का रक्षक धर्म	30	51
धर्म कभी भेदभाव नहीं करता	31	52
धर्म धारण करने का फल	32	53
कर्मों का शत्रु और जीवों का मित्र धर्म	33	54
कर्म से धर्म और धर्म से कर्म का नाश	34	55
धर्म दिखता नहीं पर होता है	35	56
तिर्यंचों की पूजा और बलि धर्म नहीं	36	57
धर्म ही सम्यक्प्राण	37	58
शिवपथगमन में धर्म सहायक	38	59
धर्म कैसे और धर्म से क्या	39	60
आत्मा बीज, धर्म भूमि और निर्वाण फल	40	61

कुतर्क से कुगति	41	62
सभी उत्तमसंयोग धर्म के लिये हैं	42	63
धर्म का पालन सावधानी से	43	65
धर्म ही सारवान्	44	66
धर्म से अनंतसुख	45	67
धर्मात्मा जीने के लिये खाता है	46	68
मोक्ष का मूल धर्म	47	69
धर्म एक औषध	48	70
वांछा रहित धर्म ही उपादेय	49	71
अकषाय ही धर्म	50	72
क्रियाकाण्ड उपचार से धर्म	51	73
निश्चय से आत्म-विशुद्धि ही धर्म	52	74
धर्म और अधर्म का कार्य	53	75
धर्मरहित जीव की गति अधम	54	76
धर्मेश	55	77
धर्मसहित और धर्मरहित का लक्षण	56	78
धर्म का पालन भावों से	57	79
धर्म हमारी रक्षा करता है, हमें पालता है	58	80
धर्म का संवर्धन वेश के साथ भावों से	59	81
धर्म कहाँ रहता है	60	82
धर्म के राग से सद्गति	61	83
धर्म से पुण्य-पाप का नाश	62	84
धर्म के सिद्धांत	63	85
धर्म किसी एक का नहीं सभी का है	64	86
धर्म सब कुछ है	65	87

मानव की शोभा धर्म से	66-67	88
क्रोधी आदि को धर्मज्ञान कहाँ	68	90
पाप क्रियाओं से धर्म का नाश	69	91
धर्म ही शरण	70	92
धर्म-शरण में ही जीवरक्षा	71	93
धर्म-भावना से जीवरक्षा	72	94
धर्म कब धारण करें	73	95
धर्म कभी मत छोड़ो	74	96
धर्म-प्रासाद के चार-स्तंभ	75	97
धर्म से जब शिवसुख, तब तुच्छ-सुख क्यों नहीं	76	98
रत्नों में रत्न धर्मरत्न	77	99
धर्म सेतु, धर्म अग्नि	78	100
धर्म कभी मलिन नहीं होता	79	101
धर्म वैद्य के समान उपकारक	80	102
धर्म वायु के समान उपकारक	81	103
धर्मबीज से मोक्षफल	82	104
जीव का रक्षक धर्म कवच	83	105
धर्म की दृढ़ नसैनी से चढ़ो मोक्षमहल	84	106
धर्म बिना सुख नहीं	85	107
बिना धर्म के मनुज की शोभा नहीं	86-88	108
धर्म-युक्त मानव प्रशसनीय	89-91	110
धर्म के प्रभाव से विपत्ति भी संपत्ति, धर्म के अभाव से सब विपरीत	92-95	112
धर्म के बिना सब दुर्भाग्य	96	115

आज तक जो नहीं किया, वही धर्म है	97	116
व्यवहारधर्म आधार है	98	117
जैसा रुचे वैसा करें	99	118
आत्मधर्म ही संसारोच्छेदक	100	119
धर्म से नहीं, डरो कर्म से	101	120
धर्मपथ	102	121
धर्म का प्रसाद	103	122
धर्म सदा हृदय में विद्यमान रहे	104	123
धर्मशतक/धर्ममकरंद ग्रन्थ पढ़ने का फल	105	124
प्रशस्ति		125
मूलग्रन्थ गाथानुक्रमणिका		129

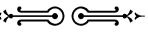

।। शुभाशीष ।।

ज्ञान दिव्य प्रकाश है जो कि अंतरंग-बहिरंग तत्त्वों का प्रकाशक है, बाहर तत्त्वबोधक भी है और आभ्यन्तर निजात्म-तत्त्व का भी बोधक है। सामान्य ज्ञान संज्ञा एकत्वभूत है। ज्ञान आत्मा का गुण है जिसकी पाँच अवस्थाएँ हैं, जो कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के नाम से जानी जाती है। परमज्ञान कैवल्य की प्राप्ति के लिये सर्वाधिक पुरुषार्थ श्रुतज्ञान से होता है। श्रुतज्ञान के बल पर ही जीव केवल्यज्ञान को प्राप्त करता है।

शब्द रूप ज्ञान यथार्थ में ज्ञेय ही है। जो ज्ञाता का निज-ज्ञेय का जानना है वह स्वज्ञान ज्ञेय भाव है। राग-द्वेष से शून्य होकर ज्ञाता, आत्मज्ञेय को जानता है। **व्यवहार से शब्द ब्रह्म भी ज्ञान संज्ञा को प्राप्त होता है। जिसके आश्रय से जीव स्व-पर के भेदविज्ञान को प्राप्त होता है वही भेदविज्ञान निर्वाण दशा को प्राप्त कराता है,** इसलिये सतत समीचीन ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये उसके लिये ग्रन्थों की स्वाध्याय करना चाहिये उसके लिये ग्रन्थों की उपलब्धि अनिवार्य अंग है।

श्रमण मुनि श्री आदित्यसागर जी श्रुतसंवेग भाव से सदा ओतप्रोत, पुरुषार्थी व्यक्तित्व के धारक, सतत श्रुताराधक, भूतार्थ श्रुत गुरु श्री जिन वीतरागी अरिहंत देव के आराधक, जिनशासन नमोस्तु शासन के उद्घोषक अभिनव अभिनव कृति सृजक को इस धर्ममय 'धम्मसदगं' कृति के लिये सदा मंगलपूर्वक शुभाशीष। वीताराग मार्ग को सदा जयवन्त करते रहें।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

नांदनी महाराष्ट्र भारत **पट्टाचार्य विशुद्धसागर**

07/08/2024

प्रस्तावना

—श्रुतसंवेगी प्राकृतमनीषी
श्रमणरत्न आदित्यसागर जी

श्रमण-संस्कृति और अन्य भारतीय-संस्कृतियों की जड़ धर्म है। **धर्म से रहित कोई संस्कृति नहीं होती और जो धर्म से सहित हो वही सर्वश्रेष्ठ संस्कृति होती है।** संस्कृति सर्वजन का मस्तिष्क है और सत्यार्थ-धर्म सर्वजन का हृदय है। जब-जब संस्कृति ने कठोर और विकृतरूप धारण किया, हिंसा आदि पापों का पथ अपनाया, अपने स्वरूप को भयावह बनाने का प्रयत्न किया, तब-तब सत्यार्थ धर्म ने उसे हृदय का प्यार लुटा कर कोमल बनाया, अहिंसा और करुणा की वर्षा करके उसके रक्तानुरंजित पथ को शीतल, सौम्य और अमृतमय बनाया, संयम-तप और सदाचार से उसके जीवन को सौन्दर्य और सर्वश्रेष्ठ-शक्ति का वरदान दिया।

मानव जीवन का मूल उद्देश्य स्वयं की खोज और आत्मानंद की लीनता ही है। यह खोज और आनन्द तब तक नहीं मिलता जब तक मनुष्य धर्मयुक्त न हो, भयमुक्त न हो तथा बहिरंग-आंतरिक आतंक-मुक्त न हो। इस मानव जीवन के सदुद्देश्य की पूर्ति के दो उपाय हैं। **प्रथम तो यह कि मनुष्य अपने जीवन को इतना सदाचारी, शीलवान, धीरवान, गंभीर और पवित्र बनाये कि उससे कोई न डरे।** दूसरा यह कि वह अपने में इतना पुरुषार्थ, सामर्थ्य, नज़रिया और बल संचित करे कि कोई उसे भयग्रस्त न कर सके। पहली बात को धर्म पूरा करता है और दूसरी बात को संस्कृति पूरा करती है।

* जैनधर्म और मानव-संस्कृति :

जैनधर्म ने मानव-संस्कृति को अभिनव रूप ही नहीं दिया, उसके अमूर्तभव तत्त्व को प्रकट करने के लिये सभ्यता का विस्तार भी किया है। प्रथम तीर्थेश ऋषभदेव इस युग के आदि में इस मानव-संस्कृति

के सूत्रधार बने। उनके पूर्व युगलियों का जीवन था, भोगमूलक दृष्टिकोण की मुख्यता थी, दश प्रकार के कल्पवृक्षों के आधार पर जीवन चलता था, कर्म और कर्तव्य की भावना सुषुप्त थी और लोग न खेती करते थे और न व्यवसाय। लोगों में सामाजिक चेतना, धार्मिकता और लोक-दायित्व की भावना के दिव्यांकुर नहीं स्फुटित हुये थे।

भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थावस्था में भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्रतिष्ठा की। पेड़-पौधों पर निर्भर रहनेवाले लोगों को खेती करना सिखाया। स्वात्मशक्ति से अनजान रहने वाले लोगों को अक्षर और लिपि का ज्ञान देकर पुरुषार्थी बनाया। दैववाद या पुण्यवाद के स्थान पर उद्यमवाद की मान्यता को संपुष्ट किया। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिये हाथों में बल दिया। जड़भूत संस्कृति को कर्म की गति दी। धार्मिकता शून्य जीवन को सामाजिकता का बोध ओर सामूहिकता का मंगल स्वर दिया। पारिवारिक जीवन का महत्त्व बताया और उसे मज़बूती भी दी, विवाह प्रथा का शुभारंभ किया। 72 कला-कौशल और व्यापार-उद्योग की व्यवस्था करके निष्क्रिय जीवन-यापन की प्रणाली को सक्रिय और सक्षम बनाया।

* संस्कृति का परिष्कार एवं महावीर अवतार :

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी तक आते-आते इस संस्कृति में कई परिवर्तन हुये। संस्कृति के महाविशाल समद्र में विभिन्न विचारधाराओं का मिलन हुआ। लेकिन महावीरस्वामी के काल में इस सांस्कृतिक मिलन का कुत्सित और बीभत्स रूप ही सामने आया। इस मंगल संस्कृति का जो निर्मल, पवित्र, विश्वव्यापी और लोक कल्याणी स्वरूप था, अब वह विकारयुक्त होता हुआ कुछ व्यक्तियों की ही सम्पत्ति बन गया।

धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड का प्रचार बढ़ा और धर्म के नाम पर मूक-निरीह पशुओं की बलि दी जाने लगी। अश्वमेध, नरमेध, राजसूय यज्ञ भी होने लगे। वर्णाश्रम-व्यवस्था में अनेकों विकृतियों-कुरीतियों ने अपने पैर जमा लिये। त्यागी-दानवीर समझे जाने वाले लोग अब करोड़ों की सम्पत्ति के

स्वामी बन बैठे। संयम का गला घोंटकर भोग और विलासता का जीवन किलकारियाँ भरने लगा। एक प्रकार का सांस्कृतिक-संकट उपस्थित हो गया।

इस संकट से जगत् को उबारा अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने। भगवान् ने अपनी दिव्यदेशना के माध्यम से संबोधित किया कि—**अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है, अहिंसा ही परमब्रह्म है।** सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। धर्म के नाम पर की गई हिंसा अधर्म है। आत्मा को पवित्र करना ही सत्यार्थ-यज्ञ है। इस हेतु क्रोध की बलि दीजिये, मान को मारिये, माया को काटिये और लोभ का उन्मूलन कीजिये। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी ने प्राणि-मात्र की रक्षा का उद्‌बोधन दिया। **धर्म के इस अहिंसामय रूप ने संस्कृति को अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया। उसे जन-रक्षा तक सीमित न रखकर समस्त प्राणियों की सुरक्षा का भार भी संभलवा दिया।** यह जनतंत्र से भी आगे प्राणतंत्र की व्यवस्था का रम्य दृष्टान्त है।

* सांस्कृतिक-समन्वय और भावनात्मक एकता :

जैनधर्म ने सांस्कृतिक समन्वय एवं एकता की भावना को भी बलवती बनाया है। यह सत्यार्थ, महत्त्वपूर्ण समन्वय आचार तथा विचार उभय क्षेत्रों में देखने को मिलता है। ध्यान रहे—विचार-समन्वय के लिये अनेकान्त-दर्शन की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् महावीर स्वामी इस सिद्धान्त या दर्शन के संस्थापक नहीं व्याख्याता रहे और उन्होंने इस दर्शन की मूल भावना का विश्लेषण करते हुये सभी ज्ञानी-अज्ञानी प्रतिबुद्ध-अप्रतिबुद्ध सांसारिक प्राणियों को संबोधन दिया कि—''**किसी बात को, सिद्धान्त को एक दृष्टिकोण से मत देखो, एक ही तरह उस पर विचारण मत करो। तुम जो कहते हो वह सत्यार्थ होगा, किन्तु अन्य लोग जो कह रहे हैं, वह भी अपेक्षाकृत सत्य हो सकता है। अतः किसी की भी बातें सुनकर भड़को मत, क्रुद्ध मत हो, धीरज रखो, वक्ता के दृष्टिकोण या अभिप्राय से चिंतन करो।**''

आज के युग में जो भी तनाव, द्वन्द अथवा युद्ध आदि हो रहे हैं, वे सब अन्य के दृष्टिकोण को न समझने के कारण हो रहे हैं अथवा विपर्यय रूप से समझने के कारण हो रहे हैं। अगर अनेकान्त और स्याद्वाद दृष्टि के आलोक

में सकल राष्ट्र और जीव चिंतन करने लग जायें तो झगड़े की जड़ ही न रहे। संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार में जैनधर्म की यह देन सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। आचरण समन्वय की दिशा में श्रमणधर्म और श्रावक धर्म की व्यवस्था बतलाई गई है। आचरण-समन्वय में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामंजस्य किया गया है। ज्ञान अर्थात् स्वाध्याय का और क्रिया अर्थात् सामायिक का संतुलन इसलिये आवश्यक माना गया है। श्रमण-धर्म के लिये महाव्रतों के परिपालन का संविधान है और इसमें सर्वथा सर्वदा प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। श्रावक-धर्म में अणुव्रतों की व्यवस्था दी गई है, इसमें एकदेश ही इन आचार-नियमों का पालन अभिप्रेत है।

सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से जैनधर्म का मूल्यांकन करते समय यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि जैनदर्शन ने सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तीयवाद आदि सभी मतभेदों को त्यागकर सत्यार्थ वस्तु तत्त्व को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्हीं दायरों में वह धर्म बंधा हुआ रहता है, परन्तु जैनधर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रान्त विशेष में ही बंधा हुआ नहीं रहा। जैन धर्म ने भारत के किसी एक भाग विशेष को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का अथवा चिंतन का क्षेत्र नहीं बताया। जैनधर्म ने सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना माना। धर्म का प्रचार करनेवालों विभिन्न तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली इत्यादि भिन्न-भिन्न रही हैं। भगवान् महावीर स्वामी विदेह अर्थात उत्तर-बिहार में जन्मे तो उनका साधन क्षेत्र तथा निर्वाण क्षेत्र तथा निर्वाण स्थल मगध अर्थात् दक्षिण-बिहार रहा। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् श्री पार्श्वनाथ स्वामी का जन्म तो काशी नगरी में हुआ पर उनकी निर्वाणस्थली बनी सम्मेदशिखर जी। प्रथम तीर्थेश सृष्टि के स्त्रष्टा भगवान् ऋषभदेव ने अयोध्या में जन्म लिया और उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत तथा यदुवंशगौरव भगवान् अरिष्टनेमिनाथ स्वामी का कर्म एवं धर्म क्षेत्र रहा गुजरात (सौराष्ट्र) प्रान्त। भूमित सीमा की दृष्टि से जैनधर्म सम्पूर्ण राष्ट्र एवं विश्व में विस्तृत है। देश के चप्पे-चप्पे में जेनधर्म की श्रद्धा, शक्ति,

विस्तार, प्रभावना और प्राचीनता संस्थापित है। दक्षिण भारत में स्थित बाहुबली स्वामी, उत्तर में स्थित विशाल काय भगवान् ऋषभदेव के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैन धर्म की यह सांस्कृतिक एकता भूमिगत ही नहीं रही। भाषा और साहित्य में भी जैनधर्म ने समन्वय का यह औदार्य प्रकट किया। जैनाचार्यों ने धर्म को समझाने के लिये सिर्फ संस्कृत को ही नहीं, अपितु अन्य सभी प्रचलित लोक-भाषाओं को अपना कर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहाँ-जहाँ भी वे गये, वहाँ-वहाँ की भाषाओं को चाहे वे आर्य हों, चाहे वे द्राविड़ परिवार की हों; जैनाचार्यों ने उन्हें अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्य-युगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज जब भाषा के नाम पर विवाद और मतभेद हैं, तब ऐसे समय में जैनधर्म की यह उदार दृष्टि अभिनंदनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

जैनधर्म अपनी समन्वय भावना के कारण ही सगुण और निर्गुण भक्ति के झगड़े में नहीं पड़ा। जैनदर्शन में निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान् के स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। अनादिनिधन शाश्वत पंचम संस्कार महामंत्र में सगुण और निर्गुण भक्ति का सबसे सुंदर मेल दिखाया गया है। अरिहंत सकल-परमात्मा कहलाते हैं, उनका शरीर परम-औदारिक होता और वे दृश्यमान भी होते हैं। सिद्ध निकल-परमात्मा कहलाते हैं, निराकार हैं, उनका कोई शरीर नहीं होता और उन्हें हम देख भी नहीं सकते हैं। ऐसा धर्ममय समभाव जैनधर्म में ही देखने को मिलता है।

*** जैनधर्म का लोकसंग्राहक रूप :**

धर्म का व्याख्यान जब भी हुआ तो विषमता में समता, अव्यवस्था में व्यवस्था और अपूर्णता में सम्पूर्णता स्थापित करने के लिये ही हुआ। अतः यह सुस्पष्ट है कि इसके मूल में वैयक्तिक अभिक्रम अवश्य रहा, परन्तु उसका लक्ष्य हितमूलक ही रहा है, उसका चिंतन लोकहित की भूमिका पर ही अग्रसर हुआ है।

सामान्यतः जब कभी भी जैनधर्म अथवा श्रमणधर्म के लोकसंग्राहक

रूप की चर्चा चलती है, तब लोक चुप्पी साध लेते हैं। मेरी समझ से इसका कारण यह रहा होगा कि जैनदर्शन में वैयक्तिक मोक्ष की बात कही गयी है। जब हम जैनदर्शन का सम्पूर्ण संदर्भों में अध्ययन करते हैं तो उसके लोक संग्राहकरूप का मूल उपादान प्राप्त हो जाता है।

लोक नायकों के जीवन क्रम की पवित्रता, उनके कार्य व्यापारों की परिधि और जीवन-लक्ष्य की व्यापकता; लोकसंग्राहक रूप का सबसे बड़ा प्रमाण है। जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे कई प्रमाण या उल्लेख संप्राप्त हैं जिनमें राजा श्रावण-धर्म अंगीकार करके, अपनी सीमाओं में रहते हुये, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों का संचालनादि करता रहा है। स्वाध्याय और अवस्था के बढ़ते क्रम के साथ उसका चिंतन बढ़ता चलता है और वह देश विरति श्रावक से सर्वविरति श्रमणत्व को धारण कर लेता है। सांसारिक-मायामोह, पारिवारिक-प्रपंच, व्यापारिकक्लेश, देहासक्तिादि से विरत होकर वह सत्यार्थ साधु, तपस्वी, श्रमण, भदंत बन जाता है। इस यथाजात निर्ग्रन्थ रूप को अपनाते ही उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उसका हृदय अत्यन्त उदाद बन जाता है। स्वपर-कल्याण में व्यवधान पैदा करनेवाले सम्पूर्ण तत्त्व अब पीछे छूट जाते हैं और वह जिस साधना पर बढ़ता है, उसमें न किसी के प्रति राग है, न द्वेष। वही सच्चे अर्थों में श्रमण है।

*** श्रमण-संस्कृति में श्रमणधर्म और श्रावकधर्म :**

पंचमहाव्रत स्वरूप श्रमणधर्म अत्यन्त कठिन है उनके लिये जिन्हें वैराग्य नहीं है, जिनके चित्त में वैराग्य विद्यमान है उनके लिये श्रमणधर्म आनन्दप्रद हो जाता है। **श्रमण के लिये खवण, मुनि, साधु, भदंत, वर्णी, निर्ग्रंथ आदि शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है।** उनके मूल में भी लोगसंग्राहक वृत्ति काम करती रही है। लोक-संग्राहक वृत्ति का धारक सामान्य पुरुष हो ही नहीं सकता। उन्हें अपनी साधना से विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना पड़ता है। वे क्रोधादि कषायों का शमन करते हैं, पाँच इन्द्रियों और मन को वशवर्ती करते हैं, शत्रु-मित्र लाभ-अलाभ जीवन-मरण स्वजन-परिजन की भेद-भावना को दूर हटाकर सभी में समान मन को नियोजित भी करते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति समभाव की धारणा करते हैं। ये ही श्रमण-विशिष्ट साधना के कारण तीर्थंकर तक बन जाते हैं और तीर्थंकर ही लोकोपदेशक होते हैं।

महाश्रमणों को महाकवियों ने अनेकों उपमाओं से उपमित किया है। ये उपमायें उनके गुणों के निमित्त से ही उन्हें दी जाती हैं। यहाँ एक कवि की गाथा उद्धृत करता हूँ—

उरग-गिरि-जलण-सागर-णहतल-तरुगण-समो य जो होइ।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवण-समो य सो समणो॥

अर्थ—भुजंग (सर्प), पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्ष पंक्ति, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान श्रमणजन होते हैं।

ये समस्त उपमायें सार्थक हैं निरर्थक नहीं है। यथा—**साधु सर्प की भाँति अपना घर कभी नहीं बनाते हैं, इसलिये साधु 'सर्प' (भुजंग) कहे जाते हैं। पर्वत की भाँति श्रमण जन परीषहों और उपसर्गों की आंधी को सहन करते हैं, इसलिये साधु 'पर्वत' कहे जाते हैं। अग्नि की तरह श्रमण कभी भी ज्ञानरूपी ईंधन से तृप्त नहीं होते, इसलिये साधु 'अग्नि' कहे जाते हैं। समुद्र की तरह अर्थात ज्ञान प्राप्त करके भी श्रमण तीर्थंकरोपदिष्ट मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, इसलिये साधु 'सागर' या 'समुद्र' कहे जाते हैं। श्रमणजन आकाश की तरह स्वावलंबी, स्वाश्रयी होते हैं; किसी पर भी आलंबित नहीं होते हैं, इसलिये वे 'आकाश' कहे जाते हैं। श्रमण वृक्ष की तरह समभाव से दुःख-सुख को सहन करते हैं।**

इसलिये ये 'वृक्ष' कहे जाते हैं। श्रमण जन भ्रमर की भाँति किसी को पीड़ा पहुँचाये बिना शरीर के रक्षणार्थ आहार ग्रहण करते हैं, इसलिये वे 'भ्रमर' कहे जाते हैं। श्रमण जन मृग की तरह पापकारी-प्रवत्तियों के सिंह से दूर रहते हैं, इसलिये वे 'मृग' भी कहे जाते हैं। श्रमणजन पृथ्वी की तरह शीत, ऊष्ण, ताप, छेदन, भेदन, ताड़नादि सर्व कष्टों को समभावपूर्वक सहन करते हैं; इसलिये वे 'पृथ्वी' कहे जाते हैं। श्रमणजन कमल की तरह वासना के कीचड़ और वैस के जल से अलिप्त रहते हैं, इसलिये 'कमल' कहे जाते हैं। श्रमणजन सूर्य की तरह स्वसाधना एवं लोकोपदेशना के माध्यम से संसार के अज्ञान-अंधकार का विनाश करते हैं, इसलिये वे 'सूर्य' कहे जाते हैं। श्रमण जन पवन अर्थत् वायु की तरह अप्रतिबद्ध रूप से गमनागमन करते हैं,

इसलिये वे 'पवन' भी कहे जाते हैं। इस प्रकार की उपमा को प्राप्त श्रमणों का वैयक्तिक स्वार्थ हो ही क्या सकता है?

ये श्रमण पूर्ण अहिंसक होते हैं। त्रस और स्थावर के भेद से षट्काय के जीवों को न स्वयं मारते हैं, नहीं दूसरों से मरवाते हैं, अपितु उनकी रक्षा अहर्निश किया करते हैं। इन महाश्रमणों का यह अहिंसा प्रेम अत्यन्त गंभीर और सूक्ष्म होता है। ये कृत, कारित और अनुमोदना से हिंसा के त्यागी होते हैं। यद्यपि महाव्रत पाँच ही होते हैं, न छह न ही चार; फिर भी अहिंसा इन व्रतों की प्राण मानी जाती है।

ये अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी घोर-उपासक होते हैं। किसी की भी वस्तु बिना पूछे नहीं उठाते। कामिनी और कंचन के सर्वथा त्यागी होते हैं। आवश्यकता से भी कम वस्तुओं की सेवना करते हैं। संग्रह की कुप्रवृत्ति से दूर ही रहते हैं। ये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का वध नहीं करते, शस्त्रादि उठाकर किसी अत्याचारी-अन्यायी राजा का नाश नहीं करते, न ही किसी को श्राप का वरदान देते हैं; लेकिन इससे उनके लोक संग्रही रूप में कोई कमी नहीं आती है। भावना की दृष्टि से तो उनमें वैशिष्ट्य आता है। ये पापियों को मौत के घाट नहीं उतारते अथवा उन्हें दण्डितादि भी नहीं करते वरन् उन्हें आत्मबोध और सदुपदेश देकर सही मार्ग पर स्थापित कर देते हैं। ये पापी को मारने में नहीं, उसे सुधारने में ही विश्वास करते हैं।

इनका लोक-संग्राहक रूप मानव सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है। ये मानव के हित के लिये अन्य प्राणियों का वध करना व्यर्थ ही नहीं, धर्म के विरुद्ध समझते हैं। श्रमणवृंदों की यह लोक संग्रह की भावना इसलिये जनतंत्र से आगे बढ़कर प्राणतंत्र तक पहुँचती है। यदि अयतनाचार से किसी जीव का वध हो जाता है अथवा प्रमादवश किसी को कष्ट पहुँचता है तो ये उन सब पापों से दूर हटने के लिये प्रातः, मध्याह्न एवं संध्याकाल में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करते हैं। ये श्रमण नंगे पैर पैदल चलते हैं। गाँव-गाँव अथवा नगर-नगर में ईर्यापथ से विचरण करके स्वसाधना के साथ-साथ पर जन की सुषुप्त चेतना को जाग्रत भी करते हैं। 28 मूलगुणों का पालन मूल परंपरा के ही अनुसार करते हैं। चातुर्मास के अलावा किसी भी स्थान पर नियतवास नहीं

करते। अपने पास केवल पिच्छी, कमण्डलू एवं शास्त्र; ये तीन ही उपकरण अपने पास रखते हैं। 32 अंतराय टालकर, 46 दोषों से मुक्त आहार सद्गृहस्थों के यहाँ भिक्षावृत्ति पूर्वक ही दिन में एक बार ग्रहण करते हैं। दूसरे समय के लिये भोजन का संचय नहीं करते एवं रात्रि में न पानी पीते हैं न कुछ खाते हैं।

यह श्रमण धर्म इतना विशाल और पवित्र है कि इसका जितना व्याख्यान किया जाये उतना कम है। श्रमण धर्म की यह दैनन्दिनचर्या इस बात का प्रबल प्रमाण है कि ये श्रमण सत्यार्थ अर्थों में स्वसाधना एवं परलोक रक्षा दोनों में निरत रहते हैं।

दूसरा धर्म है श्रावक धर्म। जो कठिन, दुरुह, गंभीर श्रमण धर्म को स्वीकारने में अशक्य होते हैं, ऐसे जीवों के लिये भगवान् ने श्रावकधर्म की व्यवस्था बताई है। इन श्रावकों की साधना के कई भेद उपलब्ध है। यथा- नैष्ठिक, पाक्षिक, दार्शनिक, साधक इत्यादि। श्रावक धर्म श्रमणधर्मापेक्षा सरल है, किन्तु प्रवृत्ति-निवृत्ति मूलक होने से कठिन ही है। अणुव्रतों के साथ बारह व्रतों का पालन तथा उत्कृष्ट रूप से ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना यह श्रावक का धर्म है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का एक देश त्याग करना, अणुव्रत हैं। जब श्रावक इन अणुव्रतों के पालन के आगे बढ़ता है तब वह सप्तशील का परिपालन करता है। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये सप्तशील कहलाते हैं। श्रावक धर्म के आचार का व्याख्यान करनेवाले 36 श्रावकाचार आज समुपलब्ध हैं, जिनमें विस्तार से श्रावक की चर्या का कथन है। श्रावकजन श्रमणधर्म का आधारस्तंभ हैं।

मूलतः षट्कर्तव्यों का पालन करना श्रावकधर्म है। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये श्रावक के षट्कर्तव्य हैं। कुंदकुंद स्वामी ने मुख्य कर्तव्य के रूप में दान और पूजा को मान्यता दी है। श्रावक धर्म के विषय में आगे भी और चर्चा करेंगे।

*** धर्मग्रन्थों के नाम और उनके कर्ता :**

पूर्वाचार्यों ने जैनदर्शन और संस्कृति के रक्षणार्थ श्रावक धर्म की व्याख्या अनेकों दृष्टिकोण एवं ग्रन्थों के माध्यम से की है। अनेकों गूढ़ और आवश्यक जानकारियाँ भी इन ग्रन्थों में जैनाचार्यों एवं प्रकाण्ड विद्वानों ने समीचीन रीति से उपलब्ध कराई है। अब यहाँ उन धर्मविषय ग्रन्थों के नाम एवं उनके कर्ता के बारे में जानते हैं—

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता
1.	**रत्नकरण्ड श्रावकाचार**	**आ. समन्तभद्र स्वामी**
2.	**स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षागत-श्रावकधर्म**	**आ. कार्तिकेय स्वामी**
3.	**महापुराणान्तर्गत-श्रावक धर्म**	**आ. जिनसेन स्वामी**
4.	**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**	**आ. अमृतचन्द्र स्वामी**
5.	**यशस्तिलकचम्पूगत-उपासकाध्ययन**	**आ. सोमदेवसूरी**
6.	**चारित्रसारगत-श्रावकाचार**	**मुनिचामुंडराय कृत**
7.	**अमितगति श्रावकाचार**	**आ. अमितगतिस्वामी**
8.	**वसुनन्दि श्रावकाचार**	**आ. वसुनन्दिस्वामी**
9.	**सावयधम्मदोहा**	**आ. देवसेन्स्वामी**
10.	**सागारधर्मामृत**	**पण्डितप्रवर आशाधर जी**
11.	**धर्मसंग्रह-श्रावकाचार**	**पण्डित मेधाविकृत**
12.	**प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार**	**आ. सकलकीर्ति स्वामी**
13.	**गुणभूषण-श्रावकाचार**	**गुणभूषण कृत**
14.	**धर्मोपदेश-पीयूषवर्ष श्रावकाचार**	**ब्रह्मनेमिदत्त कृत**
15.	**लाटी संहिता**	**पण्डित श्री राजमल्लजी**
16.	**व्रतसार श्रावकाचार**	**–**
17.	**व्रतोद्योतनश्रावकाचार**	**श्री अम्रदेव कृत**
18.	**श्रावकाचार सारोद्धार**	**श्री पद्मनन्दि कृत**
19.	**भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन**	**श्री जिनदेव कृत**
20.	**चारित्तपाहुड-गत श्रावकधर्म**	**आ. कुंदकुंदस्वामी**
21.	**तत्त्वार्थसूत्र-गत श्रावकधर्म**	**आ. उमास्वामी**
22.	**पद्मचरित-गत श्रावकाचार**	**आ. रविषेणस्वामी**
23.	**वरांगपुराण-गत श्रावकाचार**	**आ. जटासिंह नन्दि**

24.	हरिवंशपुराण-गत श्रावकाचार	आ. जिनसेन स्वामी
25.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका-गत श्रावकधर्म	आ. पद्मनन्दिस्वामी
26.	देशव्रतोद्योतन	–
27.	प्राकृतभावसंग्रह-गत श्रावकाचार	आ. देवसेन स्वामी
28.	संस्कृतभावसंग्रह-गत श्रावकाचार	पण्डित वामदेव कृत
29.	रयणसार-गत श्रावकाचार	आ. कुंदकुंद स्वामी
30.	पुरुषार्थानुशासन-गत श्रावकाचार	पण्डित गोविंद जी
31.	श्री पूज्यपाद श्रावकाचार	पूज्यपाद स्वामी?
32.	कुंदकुंदश्रावकाचार	स्वामी कुंदकुंद?
33.	उमास्वामी श्रावकाचार	उमास्वामी महाराज?
34.	रत्नमाला	आ. शिवकोटि

इन उपर्युक्त श्रावकाचार ग्रन्थों में श्रावक के विभिन्न अंगों के साथ-साथ क्रियाओं का भी वर्णन उपलब्ध है। सूक्ष्म-स्थूल अनेक विषय इन ग्रन्थों में लिपिबद्ध है। यथा—

1. सम्यग्दर्शन।

2. उपासक या श्रावक।

3. उपाकाध्ययन।

4. श्रावकधर्म प्रतिपादन के प्रकार।

5. अष्टमूलगुणों के विभिन्न प्रकार।

6. शील का स्वरूप एवं उत्तरव्रतों की संख्या।

7. वर्तमान काल के अनुकूल आठ मूलगुण।

8. रात्रिभोजन त्याग।

9. वस्त्रगालित जल।

10. श्रावक प्रतिमाओं का आधार।

11. प्रतिमाओं का वर्गीकरण।

12. क्षुल्लक, ऐलक का स्वरूप व चर्या।

13. अन्य मतानुसार प्रतिमाओं की कल्पना।

14. श्रावक दैनिक चर्या।
15. सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा में अंतर।
16. प्रोषद्योपवास शिक्षाव्रत और प्रोषधोपवास प्रतिमा में अंतर।
17. सन्न्यास, समाधिमरण और सल्लेखना।
18. अतिचारों की पंचरूपता का रहस्य।
19. निदान एवं उसका फल।
20. स्नपन, अभिषेक या न्हवन।
21. आचमन, सकलीकरण एवं हवन।
22. स्नपन, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और लय।
23. श्रावकों मुख्य-गौण कर्तव्य।
24. देह-शुद्धि का विषय।
25. जिनेन्द्र-दर्शन का महत्त्व।
26. निःसही-अस्सही का रहस्य।
27. जिनेन्द्र-पूजन की द्रव्य।
28. जिनेन्द्र-पूजन कब सुफल देता है।
29. पर्व-माहात्म्य।
30. चार प्रकार के श्रावक।
31. पंथ और परंपरा।
32. यज्ञोवपवीत।
33. अचित्त या प्रासुक भक्ष्य वस्तु विचार।
34. कालजनित रूढ़ियाँ।
35. जलगालन एवं प्रासुक जल विचार।
36. अभक्ष्य-विचार।
37. भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा।

38. द्विदलन्त विचार।

39. मलविसर्जनोपरांत शुद्धि-विधि।

40. स्वाध्याय की भूमिका।

41. आहारदान का विज्ञान।

* पूर्वाचार्यों की दृष्टि में धर्म :

पूर्वाचार्य भगवंतों ने धर्म को विभिन्न दृष्टियों से परिभाषित किया है। क्रियारूप-धर्म, आचरणरूपधर्म, स्वभावरूप-धर्म, प्रवृत्तिरूप-धर्म, निवृत्तिरूपधर्म, अनुभूतिरूप-धर्म, नीतिरूप-धर्म इत्यादि। जब से ग्रन्थों का लेखन प्रारंभ हुआ है, तभी से धर्म की व्याख्या भी लिखी गई। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तेलगु, तमिल इत्यादि अनेक भाषाओं में धर्म की चर्चा परिपूर्ण रूप से आगम ग्रन्थों में समुपलब्ध है। कुछ विशेष तथ्यों को यहाँ देखते हैं—

आचार्य भगवन् जिनसेनस्वामी ने ग्रन्थराज आदिपुराण जी के 39वें सर्ग के 19-34 श्लोकों में कहा है कि—**''हे वत्स! मैं यथाक्रम से विस्तार के साथ अपदार्थों का निरूपण करता हूँ, क्योंकि उन पदार्थों के समीप आने पर अन्य मतों के वचन दुष्ट जान पड़ते हैं। जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओं की विधि, मन्त्र, देवता, लिंग और आहारादि की शुद्धि इन पदार्थों का यथार्थ रीति से परमर्षियों ने निरूपण किया है वही धर्म है और वही समीचीन मार्ग है। इसके सिवाय सब धर्माभास और मार्गाभास है। जिसके बारह-अंग हैं, जो निर्दोष है और जिसमें श्रेष्ठ आचरणों का विधान है, ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है, जो हिंसा का उपदेश देनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराज का वाक्य ही समझना चाहिये। पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसा का निषेध करनेवाला है। इसके विपरीत जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसा का उपदेश देते हैं उन्हें धूर्तों का बनाया हुआ समझना चाहिये। पापारंभ के कार्यों से विरक्त होना चारित्र कहलाता है।''**

आगम के गूढ़ एवं सम्यक् ज्ञाता आचार्यों ने धर्म को विचित्र-दृष्टियों से परिभाषित किया है। कुछ विशेष तथ्यों पर दृष्टि डालते हैं—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे॥2॥

—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

अर्थ—जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे, उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म कर्मों का विनाश करनेवाला है तथा समीचीन है।

भाउ विसुद्धणु अप्पणउ, धम्मु भणेविणु लेहु।
चउगइ-दुक्खहँ जो धरइ, जीउ पडंतउ एहु॥2/68॥

—परमप्प-पयासु

अर्थ—निजी शुद्धभाव का नाम ही धर्म है। वह संसार में पड़े हुये जीवों की चतुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है।

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः, पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवज्जवो नीचैः, पदमुच्चैस्तदव्ययः॥7/5॥

—पंचाध्यायी/उत्तरार्ध

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषों को नीचपद से उच्चपद में धारण करता है, वह धर्म कहलाता है। तदा उनमें संसार नीच पद है और मोक्ष उच्च पद है।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो॥7॥

—पवयणसारो

अर्थ—चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है सो साम्य है और साम्य मोह-क्षोभ रहित है, आत्मा के परिणाम हैं।

समदा तह मज्झत्थं, सुद्धोभावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो, सहावाराहणा भणिया॥356॥

—बृहन्नयचक्र

अर्थ—समता, माध्यस्थता, शुभभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना; सब एकार्थवाची शब्द हैं।

अर्थाद्रागादयो हिंसा, चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः।
अहिंसा तत्परित्यागो, व्रतं धर्मोऽथवा किल॥755॥

—पंचाध्यायी/उत्तरार्ध

अर्थ—वस्तुस्वरूप की अपेक्षा रागादि ही हिंसा, अधर्म अथवा अव्रत है। एवं उनका त्याग ही अहिंसा, धर्म अथवा व्रत है।

अप्पा अप्पम्हि रजो, रायादिसु सयलदोस-परिचत्तो।
संसारतरणहेदू, धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥85॥

—भावपाहुड

अर्थ—रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में ही रत होना धर्म है अथवा जो संसार से तारने का निमित्त है, वह धर्म है।

उत्तम-खम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्चं च संजमं चेव।
तव-चाग-मकिंचणहं, बम्हा इदि दसविहं होदि॥70॥

—वारसुवेक्खा

अर्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दशभेद मुनिधर्म के हैं।

तिविहो य होदि धम्मो, सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो, सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं॥557॥

—मूलाचार

अर्थ—धर्म के तीन भेद हैं—श्रुत-धर्म, अस्तिकायधर्म और चारित्रधर्म। इन तीनों धर्मों में से श्रुतधर्म ही तीर्थ कहा जाता है।

मिथ्यात्व-रागादि-संसरणरूपेण भावसंसारे।
प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः॥

—प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति ॥7/9/9॥

अर्थ—मिथ्यात्व व रागादि में नित्य संसरण करने रूप भाव संसार के प्राणी को उठाकर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्य में धारण कर दे, वह धर्म है।

पंचपरमेष्ठ्यादि भक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्म्मस्तावदुच्यते॥

—प्रवचनसार/तात्पर्यवृत्ति॥8/9/18॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठी आदि की भक्ति, परिणामरूप व्यवहार धर्म होता है।

गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभंते॥

—परमात्मप्रकाश टीका/2/111-4/231/14॥

अर्थ—आहारदान आदि ही गृहस्थों का परम धर्म है। सम्यक्त्व पूर्वक किये गये उसी धर्म से परंपरा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।
अहिंसायाः प्रधानत्वं, जैनधर्मः स उच्यते॥

अर्थ—जिसमें स्याद्वाद है, पक्षपात नहीं है और अहिंसा की प्रधानता है, वह जैनधर्म कहलाता है।

यद्दूरं दुर्लभं सर्वं, चानर्घ्यं भुवनत्रये।
तद्वस्तु स्वयमायाति, धर्मात् करतले नृणाम्॥

अर्थ—जो वस्तु तीनों लोकों में दूर, दुर्लभ और अमूल्य है, वह धर्म से मनुष्यों के हाथ में स्वयं आ जाती है।

अहिंसा-सत्यमस्तेय - अकामक्रोध-लोभता।
भूतप्रेमहितेहा च, धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अकुशीलता, क्षमा, निर्लोभ, प्राणिमात्र से प्रेम और प्राणिमात्र के हित की चेष्टा; यह सर्ववर्णवालों का धर्म है।

धर्मो कामदुधा धेनुर्धर्मश्चिन्तामणिर्महान्।
धर्मः कल्पतरुः स्थेयान्, धर्मो हि निधिरक्षयः॥

अर्थ—धर्म कामधेनु है, धर्म महान् चिंतामणि है, धर्म स्थिर रहनेवाला कल्पवृक्ष है और धर्म अविनाशी निधि है।

धरान्तःस्थं तरोर्मूल-मुच्छ्रयेणानुमीयते।
तथा पूर्वकृतो धर्मोऽप्यनुमीयेत सम्पदा॥

अर्थ—जिस प्रकार पृथिवी के भीतर स्थित रहनेवाली वृक्ष की जड़ उसकी ऊँचाई से अनुमित होती है, उसी प्रकार पूर्व पर्याय में किया हुआ धर्म सम्पत्ति के द्वार अनुमित होता है।

सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति, कालेऽन्त परिवर्जिते।
जिनदृष्टेन धर्मेण, नैवान्येन कथंचन॥

अर्थ—आज तक जो सिद्ध हुये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और अनन्त भविष्य में जो होंगे, वे जिनेन्द्र-प्रतिपादित धर्म से ही हुये हैं, हो रहे हैं और आगे होंगे; किसी अन्य धर्म से नहीं।

कलाविज्ञान - चातुर्य - विवेकोपशगादयः।
नाना-संवेग-वैराग्या, वर्द्धन्ते धर्मतः सताम्॥

अर्थ—धर्म से सत्पुरुषों के कला, विज्ञान, चातुर्य, विवेक उपशम, नाना प्रकार का संवेग तथा वैराग्यादि वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

वरं मुहूर्तमेकं च, धर्मयुक्तस्य जीवलनम्।
तद्धीनस्य वृथा वर्षकोटीकोटी विशेषतः॥

अर्थ—धर्म सहित मनुष्य का एक मुहूर्त का जीवन अच्छा है और धर्म रहित मनुष्य का कोटीवर्ष का जीवन व्यर्थ है।

जीवन्तोऽपि मृता ज्ञेया, धर्महीना हि मानवाः।
मृता धर्मेण संयुक्ता, इहामुत्र च जीविताः॥

अर्थ—धर्म रहित मनुष्य जीविन रहते हुये भी मृत है और धर्म सहित मनुष्य मृत होकर भी इस लोक तथा परलोक में जीवित है।

अहिंसा सत्यवादित्व-मचौर्य-त्यक्तकामता।
निष्परिग्रहता चेति, प्रोक्तो धर्मः सनातनः॥

अर्थ—अहिंसा, सत्यवादित्व, अचौर्य, काम का त्याग और निष्परिग्रहता; यह सनातन धर्म कहा गया है।

धर्मो जीवदया गृहस्थ-शमिनो-र्भेदाद् द्विधा च त्रिधा,
रत्नानां त्रितयात् तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः।
मोहोद्भूत-विकल्पजालरहिता वागंग संगोज्झिता,
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते॥

अर्थ—जीवदया धर्म है, गृहस्थधर्म और श्रमणधर्म के भेद से धर्म दो प्रकार का है, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के भेद से धर्म तीन प्रकार का है, उत्कृष्ट क्षमा आदि के भेद से दश प्रकार का है तथा मोह से उत्पन्न विकल्पजाल से रहित, वचन शरीर और परिग्रह से रहित शुद्ध आनन्द से तन्मय आत्मा की जो परिणति है, वह धर्म कहलाती है।

धर्मः श्रीवशमन्त्र एष परमो, धर्मश्च कल्पद्रुमो,
धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिर्धर्मः परं दैवतम्।
धर्मः सौख्य परंपरामृत-नदी सम्भूतिसत्पर्वतो,
धर्मो भ्रातरुपास्यतां किमपरैः क्षुद्रैरसत्कल्पनैः॥

अर्थ—यह धर्म लक्ष्मी का वशीकरण मन्त्र है, धर्म उत्कृष्ट कल्पवृक्ष है, धर्म कामधेनु है, धर्म चिंतामणि रत्न है, धर्म श्रेष्ठ देवता है और धर्म सुख की परंपरा रूपी नदी की उत्पत्ति के लिये उत्तम पर्वत है, अतः हे भाई! धर्म की उपासना को, अन्य क्षुद्र असत् कल्पनाओं से क्या प्रयोजन है?

रम्यं रूपमरोगता गुणगणाः, कान्ताः कुरंगीदृशः,
सौभाग्यं जनमान्यता सुमतयः, संपत्तयः कीर्तयः।
वैदुष्यं रतिरुत्तमेन गुरुणा, योगः सहायः सुखं,
धर्मादेव नृणां भवन्ति सततं, धर्मे मतिर्दीयताम्॥

अर्थ—सुन्दर रूप, गुणसमूह, मृगनयनी स्त्रियाँ, सौभाग्य, लोकप्रतिष्ठा, सद्बुद्धि, संपत्ति, कीर्ति, पाण्डित्य, प्रीति, उत्तम गुरु की प्राप्ति, सहायक और सुख; ये सब धर्म के माध्यम से ही मानवों को प्राप्त होते हैं। अतएव सदा ही धर्म में बुद्धि लगानी चाहिये।

*** परंपराचार्य श्री विशुद्धसागर जी की दृष्टि में धर्म—**

पट्टाधीश परंपराचार्य भगवन् गुरुवर श्री विशुद्धसागर जी ने अनेकों ग्रंथों का लेखन किया है। जिसमें **''सत्यार्थबोध''** एक महान् कृति है। आचार्य भगवन् ने इस ग्रन्थ में धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा कि—
''सम्प्रदाय नहीं है, अपितु धर्म तो वस्तु का भूतार्थ, सत्यार्थ-स्वभाव

है। जो स्वभावभूत वस्तुधर्म है, उसे सभी सम्प्रदाय स्वीकारते हैं, परन्तु सभी सम्प्रदायों में परस्पर विरोध है; इसलिये सम्प्रदायों को माननेवाले अल्प ही हैं। सम्प्रदाय लघु-लघु ही होते हैं, धर्म विराट् होता है तथा उसे माननेवाले भी विराट् ही होते हैं।''

वे आगे कहते हैं कि—''जो संसार से दुःखी प्राणियों को दुःख से निकालकर सच्चे सुख को प्राप्त करा दे; उसका नाम धर्म है। जहाँ प्रत्यक्ष में मूक पक्षी-पक्षियों को पीड़ित किया जा रहा हो, बुद्धि-पूर्वक प्राण-हरण किये जा रहे हों, ऐसे बलि कर्म युक्त क्रिया करने वाला धर्मात्मा कैसे? वह क्रिया भी धर्म संज्ञा को कैसे प्राप्त हो सकती है कभी भी नहीं। वर्तमान, भावी एवं भूत त्रैकालिक जो सुख-शान्ति का हेतु है, वही धर्म है; अन्य नहीं अन्यथा नहीं। प्रवृत्तिमूलक, निवृत्तिमूलक, स्वभावदशा, विभावदशा, क्रियादशा; ये धर्म की धारायें हैं; अतः तत्त्वान्वेषी को मध्यस्थ होकर धर्म का सत्यार्थ-बोध करना चाहिये। पंथों, परंपराओं, सम्प्रदायों में धर्मपक्ष को समझने का सम्यक्-पुरुषार्थ करना चाहिये। किस सम्प्रदाय में धर्म की बात कहाँ तक है?

प्रत्येक पदार्थ धर्म-दृष्टि से धर्मात्मा है, ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि धर्म से रिक्त हो। स्वस्वभाव रूप धर्म तो जड़-चैतन्य सभी द्रव्यों में सदा विद्यमान रहता है; ऐसा कोई भी काल नहीं आता जब स्वभाव धर्मत्व से पदार्थ भिन्नत्व को प्राप्त होता हो। हाँ, इतना अवश्य है कि जीव एवं पुद्गल स्वभाव में रहेगा या विभाव धर्म में, परन्तु रहेगा स्वधर्म में।''

आचार्य भगवन् व्यवहार, निश्चय के साथ आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की व्याख्यान करते हुये कहते हैं कि—''परमात्म तत्त्व में लवलीन योगीश्वर जिस धर्म का आश्रय लेते हैं; वह धर्म क्या है? वह धर्म तो वही है जो है सो है। योगीश्वर अन्य किसी भी परवस्तुभूत धर्म का आश्रय नहीं लेते, जब स्वरूपलीन होते हैं तो मात्र निज-गुण-पर्याय में लीन रहते हैं। मैं एक चैतन्य-चिन्मय ज्ञायक स्वभावी ध्रुवधाम, टंकोत्कीर्ण परमात्मा हूँ। मेरे से भिन्न अन्य, अन्य ही है; अन्य का मैं न द्रव्य हूँ, न गुण हूँ, न ही पर्याय। मैं तो स्व-द्रव्य-गुण-पर्याय युक्त स्वचतुष्टय में पूर्ण हूँ। मैं आनन्दकन्द, ज्ञानघन पर-

भावों से पूर्ण शून्य हूँ। एक हूँ, एक था, एक ही रहूँगा, मैं ज्ञायक ही हूँ, पर का कर्ता नहीं, पर भी मेरा कर्ता नहीं, न था, न होगा; यह ध्रुव सत्य है।

व्यवहार धर्म क्रिया-प्रधान धर्म है, वह भी दो प्रकार का है— लौकिकव्यवहार और परमार्थव्यवहार लौकिक-व्यवहार से तात्पर्य लोक परंपरा का पालन करना, माता-पिता-शिक्षक आदि की विनय करना, मान्यजनों का सम्मान रखना, राजा एवं राज्य-पुरुषों, वैद्यादि का आदर करना, विद्वानों का सत्कार करना, भेंटादि प्रदान करना, यह लोक में लोकव्यवहार धर्म है। इससे सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का कोई संबंध नहीं है, मात्र लोकोपचार-विनय है। कुटुम्ब-परिवार, राज्यव्यवस्था, विद्यादान, भृत्य-कर्मादि ये सब लौकिक-व्यवहार का धर्म है, मोक्षमार्ग से भिन्न है।

काषायिक-भावों, कर्म-प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय करना, स्व-स्व गुणस्थान व स्वरूप-दृष्टि से यह परमार्थ-धर्म है। निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा धारण कर जिनलिंग से मूलोत्तर-गुणों का पालन करना, यह निर्ग्रन्थों का व्यवहार-धर्म है। वह अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति-जन्य धर्म है। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय भूत है।

निश्चय-धर्म क्रिया-शून्य, स्वरूप लीनता भूत है। ज्ञानी-योगियों के गोचर, व्यवहारी जनों के मात्र श्रद्धा का विषय है, भावना का विषय है तथा तपोधनों को अनुभूति का विषय है। अंतरंग-बहिरंग क्रियाओं का जहाँ पर निरोध है, भव के कारणों जहाँ पूर्ण क्षय हो चुका है, जहाँ परमार्थ लीनता है, निश्चय-धर्म यही है।

आत्मधर्म ही मुख्यधर्म है, उस धर्म की प्राप्ति हेतु शेष धर्म हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभूत जो रत्नत्रय लक्षणात्मक धर्म है। इस प्रकार विस्तार के भय से संक्षेपीकरण करते हुये इसे यहाँ ही विराम देते हैं।

*** जीवन में धर्म की आवश्यकता :**

जीवन को जीवन बनाने के लिये, जीवन के उन्नयन के लिये धर्म की महती भूमिका है। धर्म के अभाव में जीवन का सत्यार्थरस नीरस हो जाता है। भगवान बनने की इस मांगलीक प्रक्रिया में धर्म के निमित्त से सामान्य इंसान

दानवता को छोड़कर मानवता की ओर आता है। अतः धर्म की जीवन में उतनी ही आवश्यकता है, जितनी की मीन के लिये जल की और जीने के लिये हर प्राणी के लिये श्वास की आवश्यकता है।

जीवन में धर्म को अंगीकार करने के पहले स्वशक्ति और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञान धरना अनिवार्य आवश्यक है। धर्म ही जीवन में सत्यता, विवेक, सात्विकता, धैर्य, विनय, प्रमोद, मैत्री, मध्यस्थता, संयम, दया, त्याग, समाधि आदि अनेक गुणों को देता है। अस्तु धर्म जीवन का एक अनुपम, अद्वितीय, अनिवार्य आवश्यक अंग है।

*** धर्म पर हावि होती पाश्चात्य-असभ्यता :**

आज के परिप्रेक्ष्य में दृष्टि डालते हैं तो अनुभूत होता है कि कलियुग अपने चरम पर है। धार्मिकता, सामाजिकता, व्यावहारिकता जैसे महत्त्वपूर्ण पक्षों का अभाव सा होता जा रहा है। चाहे भोजन की बात हो, चाहे वस्त्रों की बात हो या फिर चाहे भाषण-संभाषण की बात हो; पाश्चात्य-असभ्यता सभी जगह पूर्णरूपेण हावि होती जा रही है। यदि इसे रोका नहीं गया अथवा सावधानी नहीं वर्ती गई तो धर्म, संस्कृति, सभ्यता, शिष्टाचार, कुलाचार आदि सभी नष्ट-भ्रष्ट होते चले जायेंगे।

माता-पिता, गुरुजन, छात्र, शिक्षक सभी को अपनी महती भूमिका निभानी पड़ेगी। तब कहीं जाकर के पाश्चात्य-असभ्यता से लड़ा जा सकता है। मेरा मानना तो यह है कि आधुनिकता से जितना बचेंगे धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता उतनी अधिक सुरक्षित रह पायेगी। यद्यपि अब बहुत देर हो चुकी है फिर भी प्रयास करते रहना सज्जन-पुरुषों का कर्तव्य है।

*** प्रकृत-ग्रन्थ :: प्राकृत रचना धम्म-सदगं :**

यह धम्म-सदगं अर्थात् धर्मशतक ग्रन्थ गाथा प्रमाण की अपेक्षा से 105 आर्यागाथाओं का समूह है। यह धर्मविषयक ग्रन्थ पूर्वाचार्यों के लेखन, चिंतन एवं सिद्धान्तों से परिपूर्ण है। इसका ग्रन्थ की रचना कर्नाटक प्रान्त के बैंगलूर नगर में सन् 2018 में सिर्फ 11 दिनों में लिखा गया था। प्राकृत भाषा में लिखा गया यह महान् ग्रन्थ भव्य जीवों की भवितव्यता को प्रकट करने के लिये लिखा गया है।

इस ग्रन्थ को लिखते समय मेरा मन बहुत प्रफुल्लित था। जहाँ ग्रन्थ का लेखन किया, वहाँ का वातावरण भी खुशनुमा था तथा श्रावकों का गमनागमन भी अत्यन्त अल्प था। जिस कारण से ग्रन्थ में मधुरता एवं प्रौढ़ता प्रदान करने में आसानी रही।

*** धम्म-सदगं (धर्म-शतक) ग्रन्थ की विषयवस्तु :**

ग्रन्थ के प्रारम्भ में दो गाथाओं के माध्यम से पंचपरमेष्ठी एवं सरस्वती की वंदना की गई। यह मंगलाचरण नास्तिकता के परिहार, शिष्टाचार के परिपालन, विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति एवं शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिये किया गया। यथा—

सिद्धे वरधम्मजुदे, अरुहे धम्मिंदुणो य धम्मक्के।
धम्मुवएस-देसगे, धम्मरयण-साहुणो वंदे॥1॥
जिणवयणं कलुसहरं, विमलं वा मलहरं महापरमं।
सम्म-धम्म-मयरंदं, वंदे तं अमियवयणं हं॥2॥

अर्थात् श्रेष्ठ धर्मों से युक्त सिद्धों की, धर्म के चन्द्रस्वरूप अरिहंतों की, धर्म के सूर्य आदित्य की, धर्म के उपदेशक उपाध्यायों की तथा धर्म के रत्नस्वरूप श्रमणों की मैं वंदना करता हूँ॥1॥ कालुष्य को मिटानेवाले, अष्टकर्म-मलों को हरनेवाले, निर्दोष, महान्, श्रेष्ठ, सम्यग्धर्म के पराग, अमृतस्वरूप जिनवचनों को मैं नमस्कार करता हूँ॥2॥

गाथा क्रमांक-3 में प्रतिज्ञावाक्य एवं ग्रन्थ के नाम का निरूपण करते हुये लिखा कि—'जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म को तथा धर्मतीर्थ के कर्ता को नमस्कार करके स्वपरहितार्थ सत्यार्थ धर्मशतक अपर नाम धर्म-मकरंद नामक इस ग्रन्थ को मैं कहूँगा।।3।।

इसके पश्चात् निश्चय-व्यवहार धर्म का निरूपण किया गया है। कहा गया है कि—'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता व्यवहार धर्म है तथा निश्चय से ज्ञायक-भाव ही जीव का धर्म है।।4।।

आगे तीन गाथाओं में सम्यक्त्व का लक्षण, सम्यक्त्व के भेद और सम्यक्त्व के 44 दोषों का निरूपण करते हुये कहा है कि—सच्चे देव, शास्त्र

और गुरुओं पर श्रद्धान होना, पदार्थों पर श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। यदि श्रद्धान निर्दोष है तब ही शुद्ध-सम्यग्दर्शन होगा।।5।।

सम्यग्दर्शन विवक्षा के अनुसार एक, दो, तीन, चार अथवा दश प्रकार का जानना चाहिये।।6।।

सम्यक्त्व को दूषित करनेवाले 44 दोष होते हैं—तीन मूढ़ता, सप्तभय, छह-अनायतन, शंकादि आठ दोष, ज्ञानादि आठ मद, सप्तव्यसन और पाँच अतिचार।।7।।

आगे गाथा में सम्यग्दृष्टि जीवों के 77 गुणों की चर्चा की गई है। 8 मूलगुण, 12 उत्तरगुण, 12 वैराग्यभावना, 1 निर्विघ्न भक्ति, 7 भयों के त्याग रूप निर्भयता, 25 मलों के अभाव रूप निर्मलता और पांच अतिचारों का अभाव; ये दर्शन श्रावक के 77 गुण हैं।।8।।

आगे दो गाथाओं में कहा गया है कि—**सम्यक्त्व ही धर्म का मूल है और सम्यक्त्व ही तीनों लोकों को प्रकाशित करनेवाला रत्न है।** ग्यारहवीं गाथा में सम्यक्त्व के प्रतिपादन का उपसंहार करते हुये कहा कि—**'सम्यक्त्व सहित अष्ट-प्रवचनमातृका का सद्ज्ञान भी सारभूत है, मगर सम्यक्त्वविहीन बहुत शास्त्रों का ज्ञान भी निस्सार है।'**

आगे चार गाथाओं में सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया गया है। इनमें सम्यग्ज्ञान का लक्षण, भेद, परिभाषा एवं उसके धारण करने का उद्देश्य बतलाया गया है। जो वस्तु के स्वरूप को जैसा का तैसा जानता है, प्रदीप के सदृश है, संदेह रहित है, वही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, वह सम्यग्ज्ञान एक, दो, पाँच तथा अनेक भेदवाला है। जो जानता है, वह मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान रूप है ज्ञान की धारणा चारित्र की प्राप्ति के लिये ही की जाती है। इस प्रकार चार गाथाओं में सद्ज्ञान का कथन किया।

आगे तीन गाथाओं में सम्यक्चारित्र का वर्णन है। यहाँ कहा गया है कि—'संसार के कारणभूत कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग होने का नाम सम्यक्चारित्र है, यह चारित्र महाव्रत, समिति गुप्तिरूप है।

व्यवहार नय से चारित्र एक, दो, तीन, पाँच अथवा तेरह प्रकार का है एवं निश्चय नय से आत्मा ही चारित्र है।' आगे कहा कि—'जीवन का सार सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व के नियोग से ज्ञान सम्यक् होता है, इन दोनों से चारित्र और चारित्र से निर्वाण की उपलब्धि होती है।'

गाथा क्रमांक-19 में भ्रष्टों में भ्रष्ट की चर्चा करते हुये कहा गया है कि—'सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को निर्वाण की लब्धि नहीं होती, किन्तु चारित्र से भ्रष्ट जीव सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। जो प्राणी तीनों से भ्रष्ट हैं, वे प्राणी भ्रष्टों में घोर भ्रष्ट हैं।'

अब इसके आगे धर्म की व्याख्या का विस्तार किया गया है। अन्यान्य द्रव्यों के धर्म का तथा जीवद्रव्य के धर्म का निरूपण करके दश-विध उत्तम-धर्मों का प्रतिपादन किया गया।

गाथा 22 में उभय धर्म की कथनी सरल शब्दों में की गई है। तथा अगली गाथा में श्रावक धर्म से ऊपर उठने की भी प्रेरणा गाथा में कही गई है। यथा—धर्म दो प्रकार का होता है। प्रथम श्रमणधर्म, दूसरा श्रावकधर्म। सर्वश्रेष्ठ श्रमणधर्म ही है। यदि शक्ति हीनता हो तो श्रावक धर्म स्वीकारना चाहिये किन्तु श्रावकधर्म को तजकर श्रमणधर्म में रमण करना श्रेयस्कर है। क्योंकि श्रावक धर्म के त्याग के बिना मोक्ष असंभव ही है।

आगे रत्नत्रय की प्राप्ति का साधन और उसके फल का व्याख्यान करते हुये लिखा है कि—'अरहंत परमेष्ठियों के दर्शन से सम्यग्दर्शन की, जिनवचनों के श्रवण से सम्यग्ज्ञान की तथा सत्यार्थ श्रमणों के सामीप्य से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है तथा इन तीनों की एकता से निर्वाण की प्राप्ति होती है।'

आगे दो गाथाओं में स्याद्वाद ज्ञान की प्रशंसा करते हुये कह रहे हैं कि—'स्याद्वादज्ञान से ही धर्म का सच्चाज्ञान संभव है, इसलिये निश्चय से वह स्याद्वादज्ञान ही सम्यग्वाद है, स्याद्वाद ज्ञान संशयवाद नहीं है। अतः वाद, विवाद और प्रमाद को छोड़कर स्याद्वादज्ञान को धारण करो। तभी धर्म का फल और आनंद प्राप्त होगा।'

इसके आगे गाथा-27 से गाथा-40 तक सत्यार्थ धर्म की प्रशंसा की गई है। इन्हें भी यहाँ संक्षेप से देखते हैं—

वस्तु का स्वभाव धर्म है और स्वभाव, गुण, धर्म, भाव; एकार्थवाची हैं। यही ज्ञान समीचीन सौख्य का साधन है।।27।।

हिंसा से बचने के लिये सत्यादि अन्य धर्मों का भी पालन किया जाता है। अहिंसा ही समीचीन धर्म की जड़ है।।28।।

धर्मरूपी समुद्र के मुख्य 6 रत्न हैं–सत्य, अहिंसा, दया, समता, मैत्री और परोपकार॥29॥

जो प्राणियों की रक्षा करता है, नित्य ही उनकी रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है।।30।।

चाहे राजा हो या रंक, श्रमण हो या श्रावक, नर हो या तिर्यंच सद्धर्म किसी भी काल में किसी भी जीव पर भेदभाव नहीं करता है।।31।।

जो प्राणी धर्म को धारण करता है, धर्माचरण करता है; धर्म उसके पापों का धर्म करता है, पुण्य का वर्धन करता है तथा दुर्भाग्य के उदय में धर्म उसकी रक्षा भी करता है।।32।।

धर्म कर्मों का शत्रु है और जीवों का मित्र है, इसलिये परमशुद्धावस्था की प्राप्ति के लिये धर्म को धारण करना चाहिये॥33॥

दुष्कर्मों से धर्म का अभाव और धर्म से कर्मों का अभाव होता है। ऐसा जानकर शिवसुख की प्राप्ति के लिये कर्मों को छोड़कर धर्म को धारण करें।।34।।

धर्म वायु के समान निर्मल होता है, उसे चरमचक्षुओं से कभी भी नहीं देखा जा सकता है। उसे तो श्रद्धान के चक्षुओं से देखा जाया जाता है।।35।।

कभी तो तिर्यंचों की पूजा करना और कभी उन तिर्यंचों की बाली देना, यह धर्म नहीं हिंसा है। घोर अज्ञान भाव ही है॥36॥

धर्म ही प्राणियों का समीचीन प्राण हैं, अन्य नहीं। धर्म के बिना पुरुष पुरुष नहीं, तिर्यंच के समान है।।37।।

जैसे पुद्गल और जीव द्रव्य के गमन में धर्मद्रव्य सहायक है, उसी प्रकार निर्वाणपथ में गमनार्थ जिनधर्म सहायक है।।38।।

जीव बुद्धि के द्वारा धन की प्राप्ति करता है, पूर्वपुण्य और वर्तमान पुरुषार्थ से सद्धर्म को प्राप्त करता है तथा धर्म के प्रभाव से मोक्ष को प्राप्त करना है।।39।।

यदि चैतन्य बीज को उत्तम आत्मा रूपी बीज को धर्मरूपी भूमि में बोया जाता है तो निश्चित ही भव्यात्माओं के लिये मधुर निर्वाण फल प्राप्त होता हैं।।40।।

आगे एक गाथा में कुतर्क से कुगति होगी ऐसा कहा है। यदि कोई जीव सम्यग्धर्म में और जिनवरों में प्रधान कहे गये तीर्थंकरादि के द्वारा कथित शुभवचनों में कुतर्क करता है, तो उसकी दुर्गति निश्चित है।।41।।

आगे की गाथाओं में धर्म के विषय में और अधिक प्रयास डालते हुये सुंदर दृष्टांत, तथ्य और तर्कों का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

श्रेष्ठ परिणाम, मन, संबंधी, कुल, शरीर, जाति, संपत्ति, बल, वीर्य और आयु; ये सभी नियम से धर्म के लिये ही प्राप्त होते हैं।।42।।

सर्वोत्कृष्ट धर्म का हमेशा अच्छे से ही पालन करना चाहिये। क्योंकि सावधानता से शिवगति और असावधानता से दुर्गति होती है।।43।।

संसाररूपी वन में कोई भी द्रव्य सारवान् नहीं होता है, केवल धर्म ही सारवान् है, इसलिये धर्म को धारण करो।।44।।

जीव कल्पवृक्षों से इन्द्रियसुखों को प्राप्त करता है, मंदकषाय से स्वर्ग-सुखों को प्राप्त करता है तथा धर्म के द्वारा अनंतसुखों को प्राप्त करता है।।45।।

जिसके पास धर्म होता है वह जीने के लिये ही खाता है, जिसके पास धर्म नहीं होता वह खाने के लिये जीता है।।46।।

मोह दुःखों का मूल कारण है और धर्म मोक्ष का मूल कारण है, इसलिये मोह, रागद्वेषादि को भूलो मगर धर्म को नहीं भूलो।।47।।

सभी राग और रोगों की वैराग्यमय धर्म ही औषध है। धर्ममय-औषध के सेवन के बिना कर्मों के रोगों का शमन नहीं होता है।।48।।

धर्म करना चाहिये, मगर फल की चाह नहीं करनी चाहिये, चाहत से भवरूपी कर्म प्राप्त होता है और चाहत के बिना शिवगति का परम सुख प्राप्त होता है।।49।।

तीर्थंकर के अथवा धर्म के राग में भी कषाय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अकषायभाव ही धर्म है, कषाय भाव में धर्म नहीं है।।50।।

सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड धर्म नहीं हैं, अपितु धर्म का साधन हैं। साधन के अभाव में साध्य की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये उपचार से क्रियाकाण्ड भी धर्म है।।51।

व्यवहार से पुण्य क्रिया धर्म है और पापक्रिया अधर्म है। निश्चय से आत्मा की विशुद्धि ही धर्म है॥52॥

शिवगति का दान और संसार के परिभ्रमण का हरण धर्म का कार्य है। संसार का परिभ्रमण ओर शिवगति का हरण अधर्म का कार्य है।।53।।

धर्म से विहीन जीव नरकगति, तिर्यंचगति, पिशुनगति अथवा देवदुर्गति को प्राप्त होता है; ऐसा संसार में देखा जाता है।।54।।

जो समता को अच्छी तरह से धारण करता है, विषमता को सहन करता है और ममत्व को तजता है; वह जीव धर्म का ईश्वर होता है।।55।।

जो पर के दुःख में हर्षित होता है वह धर्म से रहित है तथा जो पर के सुख में हर्षित होता है वह धर्म से सहित है।।56।।

धर्म का पालन केवल जाति और कुल से नहीं होता है, वह तो पशु भी कर सकते हैं। यदि जाति और कुल से होता तो उत्तम कुल और जाति वालों को निर्वाण सुख प्राप्त हो जाता है।।57।।

हम धर्म की रक्षा नहीं करते, धर्म ही हमारी रक्षा कारता है। हम धर्म को नहीं पालते हैं, अपितु धर्म ही हमें पालता है।।58।।

मनोहर समीचीन धर्म के संवर्धन, संरक्षण, स्थिरता; प्रचारादि कार्य-कलाप हेतु साधु-वेश के साथ-साथ दृढ़ साधुभाव भी आवश्यक है।।59।।

सत्यार्थ-धर्म न तो जल में है, न ही आकाश या भूमितल में निवास करता है, समीचीन धर्म तो भव्योत्तम धर्मात्माओं के मनरूपी सुंदर महल में रहता है॥60॥

जिसका विषयाभिलाषा के प्रति प्रचुर-राग बढ़ता है, उसकी दुर्गति होती है। जिसका धर्म के प्रति प्रचुर-राग बढ़ता है, उसकी सद्गति होती है।।61।।

धर्म के प्रभाव से पाप-निर्जरा और पुण्य-वृद्धि होती है। पश्चात् उस धर्म के द्वारा संचित पुण्य से पुण्य-पाप दोनों का विनाश होता है।।62।।

वचनों में स्याद्वाद, दृष्टि में अनेकान्त तथा चर्या में अहिंसा, जिनेन्द्र कथित धर्म के सुंदर सिद्धान्त हैं।।63।।

उत्तमधर्म केवल मानव धर्म नहीं है, उत्तमधर्म तो प्राणीमात्र का धर्म है। जिनधर्म वायु के समान है, उस पर सभी का अधिकार है।।64।।

धर्म ही कल्पवृक्ष है, धर्म ही चिंतामणि रत्न है, धर्म ही अविनाशी निधि है और धर्म ही दृढ़प्रासाद है।।65।।

जैसे उत्तमदेश की शोभा धान्यों से है, साधु की शोभा तप और ध्यान से है, श्रावक की शोभा दान-पूजा से है; उसी प्रकार मानव की शोभा धर्म से है।।66।।

मदोन्मत्त, असावधान, विक्षिप्त, क्रोधी, लोभी, कामातुर, क्षुधातुर, मायावी, श्रान्त और सुखिया जीव धर्म को नहीं जानता है।।68।।

पाप-क्रियाओं से धर्म का संवर्धन नहीं हो सकता अपितु उन क्रियाओं के करने से कीर्ति, पुण्य अथवा अन्य सभी गुणरूप धर्म नष्ट हो जाते हैं।।69।।

पंचेन्द्रिय विषयरूपी विषों से मूर्च्छित जीवों के लिये तथा इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग से पीड़ित जीवों के लिये मात्र जिनधर्म ही समीचीन-शरण समझना चाहिये।।70।।

जब तक मछली नीर में रहती है, अभी तक उसकी रक्षा संभव है। वैसे ही तभी तक जीव की रक्षा संभव है जब तक जीव धर्म की शरण में है।।71।।

हे भव्य! जब तक भव्य जीव के पवित्र मन में धर्म की शुभ भावना वास करती है, तब तक कोई भी उस भव्य जीव का अशुभ नहीं कर सकता है।।72।।

जब तक आयु क्षीण नहीं हुई, जब तक बुढ़ापा नहीं आया और जब तक इन्द्रियों में सामर्थ्य है, तब तक धर्म को ग्रहण कर ही लेना चाहिये।।73।।

श्री, स्त्री और जीवन के राग में धर्म के विरुद्ध कोई भी काम नहीं करना चाहिये। सभी द्रव्यों को छोड़ दो, परन्तु सम्यग्धर्म को नहीं छोड़ो॥74॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप धर्मरूपी महल के चार स्तंभ हैं। एक भी स्तंभ के नष्ट होने पर पूरा महल गिर जाता है।।75।।

जब उत्तम धर्म का आचरण करने से निर्वाण सुख प्राप्त हो जाता है तब स्वर्गादि तुच्छ सुख क्यों नहीं मिलेगा।।76।।

मात्र धर्मरूपी रत्न ही तीनों लोकों में रत्नों में श्रेष्ठतम रत्न है। धर्मरत्न के बिना शिवरमणी की प्राप्ति कभी भी संभव नहीं है।।77।।

कर्मरूपी विशाल किले को जलाने के लिये धर्म प्रचंड अग्नि है और भवसागर रूपी महा भयानक समुद्र को पार करने के लिये धर्म दृढ़ सेतु है॥78॥

अभी तक ग्रन्थ में उपमा रूप से धर्म का कथन किया गया, अब आगे 13 गाथाओं के द्वारा दृष्टान्त परक व्याख्यान करते हैं—

जिस प्रकार समद्र का पानी मेंढक के मरने से दूषित नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानियों की निंदा से जिनधर्म रूपी सागर कभी मलिन नहीं होता।।79।।

जिस प्रकार कोई कुशल वैद्य कुल-जाति के भेद के बिना रोगी का उपचार करता है, वैसे ही धर्मरूपी कुशलवैद्य जन्म-जरा-मृत्यु रूपी रोगों से ग्रस्त जीवों का उपकार किया करता है।।80।।

जैसे वायु कभी दिखती नहीं फिर भी जीवों का उपकार करती

है, वैसे ही धर्म का मार्ग भी दिखता नहीं है, फिर भी जीवों का उपकार करता रहता है॥81॥

जिस प्रकार भूमि पर उत्तमबीज बोने पर जीव उत्तमफल को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्म-भूमि पर बोया गया रत्नरूपी धर्म का उत्तम बीज निर्वाण के उत्तमफल देता है।।82।।

जिस प्रकार गहन युद्ध में वीर-मल्ल का रक्षण कवच करता है, उसी प्रकार इस महल संसार में स्थित जीव की रक्षा धर्मरूपी कवच ही करता है।।83।।

जैसे जीव मज़बूत नसैनी आदि के द्वारा हमेशा महल में चढ़ता है, उसी प्रकार दृढ़ धर्म के द्वारा ही स्वर्ग और मोक्ष के महल में चढ़ा जाता है।।84।।

जैसे छत्र के बिना छाया नहीं होती है, मेघ के बिना वर्षा नहीं होती है, जल के बिना तृषा की पूर्ति नहीं होती है। उसी प्रकार धर्म के बिना सुख प्राप्त नहीं होता है।।85।।

जिस प्रकार चारित्र विहीन श्रमण, दाँत रहित हाथी, गुणहीन पुत्र, छाया रहित वृक्ष, गंध रहित पुष्प, शिष्य रहित आचार्य, वेग रहित घोड़ा, नेत्र रहित मुख, चन्द्रमा रहित रात्रि, जल रहित सरोवर, पति रहित स्त्री, जिनबिंब रहित देवस्थान, सुशोभित नहीं होते॥86-88॥

जिस प्रकार मंत्रियों से युक्त राज्य, शील-गुण से युक्त नारी, दानादि से युक्त धनिक, वीरता-शूरता आदि गुणों से सहित राजा, मद से रहित ज्ञानी, भक्ति से युक्त शिष्य, बाधा रहित वचन, विनय समन्वित विद्यार्थी, शस्त्र युक्त सेना प्रशंसनीय होते हैं, उसी प्रकार धर्म से युक्त मानव प्रशंसनीय होते हैं।।89-91।।

आगे चार गाथाओं में धर्म के प्रभाव की चर्चा करते हुये कहा कि— 'धर्म के प्रभाव से तिर्यंच भी देव हो जाता है, धर्म के अभाव से देव भी तिर्यंच रूप हो जाता है। धर्म के प्रभाव से प्रचंड अग्नि भी शीतलहिम हो जाती है, महाविषाक्त सर्प भी रत्नमयी हार हो जाता है। धर्म के प्रभाव से हलाहल विष अमृत रूप हो जाता है, विशाल दुःख भी सुखरूप हो जाता है और क्षणार्थ

में शीघ्रता से दुष्टपरिणामी जीव भी दया युक्त हितकारक हो जाता है। धर्म के प्रभाव से सौधर्म इन्द्र भी दास हो जाता है और धर्म के अभाव से सब कुछ विपरीत भी हो जाता है।।92-95।।

आगे कहा कि—धर्म के बिना चारित्र नहीं होता, चारित्र के बिना सौभाग्य नहीं होता, सौभाग्य/पुण्य के बिना सुख नहीं मिलता और सौभाग्य के बिना सब कुछ दुर्भाग्यमय ही है।।96।।

आगे धर्म करने की सत्प्रेरणा देते हुये कहा कि—'जो जो कृत्य आज तक नहीं किया, उस उस कृत्य को ही तुम धर्म जानो और जो जो कृत्य आज तक किये, वो वो कृत्य दुःखों के मूल कुधर्म हैं'।।97।।

अंत-अंत की गाथाओं में उपसंकार रूप में व्यवहार धर्म को साधन बताया है और निश्चय धर्म ही साध्य है। आत्मधर्म ही उपादेय है ऐसी प्रेरणा भ्श्राी दी गई। है। यथा—

व्यवहार-धर्म के बिना निश्चय-धर्म का सद्भाव नहीं है, इसलिये निश्चर्य-धर्म की उपलब्धि में व्यवहार धर्म ही आधार है।।98।।

बहुत कहने से क्या लाभ है, एक धर्म ही मानव जन्म का सार है ओर उस धर्म के बिना मनुष्य जन्म व्यर्थ है। जाब आपको जो रुचे वो करें।।99।।

राज्यधर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म इत्यादि व्यवहारधर्म संसार का वर्धन करते हैं, केवल आत्मधर्म ही संसार का उच्छेद करता है।।100।।

कर्म से डरो, मगर कभी भी धर्म से मत डरो। कर्म रुलाता है, धर्म हमेशा ही रक्षा करता है।।101।।

आगे की गाथा में सिद्धत्व और श्रमणत्व की प्रेरणा देते हुये श्रावकों से कह रहे हैं कि—'श्रावक से श्रमण बनो पुनः श्रमण बनकर अरिहंत बनो, फिर अरिहंत बनकर सिद्ध बनो; यही धर्मपथ है'।।102।।

धर्म के प्रसाद से पापियों के सम्पूर्ण अशुभकार्य और अशुभकर्म विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। और धर्म के प्रसाद से रागी त्यागी, त्यागी वैरागी और वैरागी वीतरागी हो जाता है।।103।।

उपान्त्य गाथा में हृदय में धर्म को अवस्थित करने की भावना भाते हुये

कहा गया कि—'जिस धर्म को उत्तम मानव, गणधर, चक्रवर्ती और शतेन्द्र नमस्कार करते हैं, वह जिनधर्म नित्य ही मेरे हृदय में विद्यमान रहे'।।104।।

अंतिम गाथा में ग्रन्थ के अध्ययन का फल प्रदर्शित करते हुये कहा कि—जो भव्यजीव श्रद्धान पूर्वक प्रीतिपूर्वक इस धर्म-मकरंद को पीता है; वह जीव सूर्य के समान प्रकाशमान कैवल्य ज्ञानसूर्य को प्राप्त करता है।।105।।

इस प्रकार 105 गाथाओं के माध्यम से ग्रन्थ का प्रमेय पूर्ण होता है।

*** उपसंहार :**

यह धर्मशतक या धर्म-मकरंद ग्रन्थ जीवों के चित्त में शान्ति स्थापित करनेवाला है। इसके पठन-पाठन से मानव अपनी स्वात्मा को परमात्मा बना सकता है। बिना आचरण के मानव जीवन पशु तुल्य है, अतः आचरण की शिक्षा देने वाला यह ग्रन्थ पठनीय, श्रवणीय, रक्षणीय है।

धर्मवचन

सद्गुणों से युक्त भव्यात्मा ही सद्साहित्य के सृजन करने में समर्थ हो सकते हैं। गुणवान ही गुणों के महत्त्व को समझ सकता है, गुणों का बखान कर सकता है। भारत की भूमि पर ऐसे अनेकानेक मुनि भगवंत हुये जिन्होंने जिनदेशना से संप्राप्त आगमनुसार धर्म की प्ररूपणा की है और मानव समाज को धर्म के मर्म को समझाकर यथार्थ रीति और प्रीति से जीवन जीने की कला को निरूपित किया है।

धर्म कुछ और नहीं अपितु सबसे के साथ जीकर भी स्वयं के साथ स्वयं में जीना है।

इसी उद्देश्य को ध्यान रखकर **मेरे अग्रज प्राकृत मनीषी श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी महाराज ने ''धम्म-सदगं''** नामक अनुपम कृति का अप्रमित प्रमेय के साथ सहज भाषा में लेखन करके जिनशासन के श्री कोष की वृद्धि की है।

इस कृति के लिये धर्म सन्मार्ग दर्शक पट्टाचार्य गुरूवर विशुद्धसागर जी यतिराज का आशीर्वाद संप्राप्त हुआ।

मेरा अहो अहो अहो सौभाग्य रहा कि मुझ अल्प श्रुतधी को इस अनुपमेय कृति का संपादन करने अवसर प्राप्त हुआ। आशा करता हूँ आप सुधीजन इस कृति का अध्ययन चिंतन मनन और मंथन करके धर्म के यथार्थ मार्ग में बढ़कर अपनी चेतना का कल्याण करेंगे ॥

॥ यही मंगल भावना ॥

॥ विशुद्धात्मने नमः ॥

आध्यात्मिक विशुद्ध ज्ञान वर्षयोग कोटा **विशुद्धगुणाकांक्षी**

04/08/2024 **श्रुतप्रिय अप्रमितसागर**

मंगलाचरण
(आर्या-गाथा)

सिद्धे वरधम्मजुदे, अरुहे धम्मिंदुणो य धम्मक्के।
धम्मुवएस-देसगे, धम्मरयण-साहुणो वंदे॥1॥

अन्वयार्थ—**(वरधम्मजुदे सिद्धे)** श्रेष्ठ धर्मों से युक्त सिद्धों की, **(धम्म-इंदुणो अरुहे)** धर्म के चन्द्रस्वरूप अरिहन्तों की, **(धम्म-अक्के)** धर्म के अर्क/सूर्य आचार्यों की, **(धम्म-उवएस-देसगे)** धर्म के उपदेशक उपाध्यायों की **(य)** तथा **(धम्मरयण-साहुणो)** धर्म के रत्नस्वरूप श्रमणों की **(वंदे)** मैं वन्दना करता हूँ॥1॥

गाथार्थ—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन प्रभृति अनेकों श्रेष्ठ धर्मों अर्थात् गुणों से युक्त अनंतानंत सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ। धर्म के चन्द्रस्वरूप जीवों को शीतलता प्रदान करनेवाले अरिहन्त भगवन्तों की मैं वन्दना करता हूँ। धर्म के सूर्य अर्थात् धर्म के सद्गुणों को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के समान सूरि/आचार्यों की मैं वन्दना करता हूँ। धर्म का उपदेश देनेवाले अध्यापक तत्त्वज्ञानप्रदाता उपाध्यायों की मैं वन्दना करता हूँ। उत्तमधर्म के रत्नस्वरूप अर्थात् बहुमूल्य रत्नत्रय के धारक सभी श्रमणों/साधुओं की मैं वन्दना करता हूँ॥1॥

विशेषार्थ—यहाँ मंगलाचरण गाथासूत्र में पंचपरमेष्ठी स्वरूप पंचमहापुरुषों की वन्दना के द्वारा ग्रन्थ का मंगलारंभ किया गया है। शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिये, नास्तिकता के परिहार के लिये, शिष्टाचार के पालन के लिये, उपकारी के स्मरण के लिये, शिष्यों के अनुग्रह के लिये तथा परिणामों की निर्मलता के लिये, इन छह कारण से मंगलाचरण किया जाता है।

पूर्वाचार्यों ने आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् तीन बार मंगलाचरण करने का उपदेश दिया है। आदि-मंगलाचरण से शिष्य विद्या में पारंगत होता है, मध्य-मंगलाचरण के फलस्वरूप प्रारम्भ किया गया कार्य निर्विघ्न सम्पन्न

होता है तथा अन्त-मंगलाचरण से विद्या और विद्या के फल की लब्धि होती है। ग्रन्थ में भी गाथा क्र. 1,2 और 104 में आदि, मध्य, अन्त त्रय मंगलाचरण-प्रयुक्त हैं।

मंगलाचरण में प्रयुक्त पंचपरमेष्ठिओं के लिये विशेषण—

1. सिद्ध— अनन्तज्ञानादि श्रेष्ठतम धर्मों से युक्त।
2. अरिहंत— धर्म के चन्द्रमा।
3. आचार्य— धर्म के सूर्य।
4. उपाध्याय— धर्म के उपदिष्टा।
5. साधु— धर्म के रत्न।

इस गाथा में सिद्धों को पहले नमस्कार इसलिये किया गया, क्योंकि धर्म का अर्थात् रत्नत्रय का फल सिद्धत्व है, सिद्धगति की प्राप्ति है। अतः जिसे जो विद्या रुचती है वह उसी विद्या के स्वामी के पास जाता है॥1॥

जिनवचन-वंदना

जिणवयणं कलुस-हरं, विमलं वा मलहरं महापरमं।
सम्म-धम्म-मयरंदं, वंदे त अमिय-वयणं हं॥2॥

अन्वयार्थ—(**कलुसहरं**) जो कालुष्य को हरनेवाले हैं, (**मलहरं**) कर्म मलों को हरनेवाले हैं, (**विमलं**) दोष रहित हैं, (**महापरमं वा**) अथवा महान् हैं, उत्तम हैं, (**सम्म-धम्म-मयरंदं**) समीचीन धर्म के पराग-स्वरूप हैं; (**अमियवयणं जिणवयणं तं**) उन अमृतस्वरूप जिनेन्द्र कथित वचनों को (**हं वंदे**) मैं नमस्कार करता हूँ॥2॥

गाथार्थ—कालुष्य को मिटानेवाले, अष्टकर्म-मलों को हरनेवाले, निर्दोष, महान्, श्रेष्ठ, सम्यग्धर्म के पराग, अमृतस्वरूप जिनवचनों को मैं नमस्कार करता हूँ॥2॥

विशेषार्थ—इस द्वितीय मंगलाचरण में अद्वितीय-अनुपम-जिनवचनों की वंदना की गई है। यह वन्दना सहेतुक की गई है। **सप्तभंगी वचनों के प्रतीक स्वरूप सप्त विशेषणों का प्रयोग किया गया है।**

मन में स्थित कलुषता को, संक्लेशता को हरनेवाले होने के कारण जिनवचनों को ''**कलुसहरं**'' उपमा दी है। संसार-परिभ्रमण में कारणभूत अष्ट-दुष्ट-परिग्रहस्वरूप ज्ञानावरणादि कर्मों को समूल नष्ट करने में सहायक होने के कारण ''**मलहरं**'' विशेषण प्रयुक्त किया गया है। न्यायग्रन्थों में कथित त्रयदोष अथवा पूर्वापरबाधादि दोषों से विमुक्त होने के कारण ''**विमलं**'' विशेषण का प्रयोग किया है। उत्कृष्टता को प्राप्त होने से ''**परमं**'' और सम्पूर्ण वचनों में महान् होने से ''**महा**'' विशेषण प्रयुक्त है। समीचीन अथवा सम्यग्धर्म के मकरंद अर्थात् पराग स्वरूप होने से अथवा सत्यार्थ धर्म के मधुर सारभूत होने के कारण ''**सम्म-धम्म-मयरंदं**'' उपमा संप्रयुक्त की गई।

अमृत के समान मधुरतम होने से अथवा अमृतवत् परोपकारी होने से **''अमियवयणं''** विशेषण उपयुक्त किया गया है।

इस प्रकार विचित्र-विचित्र विशेषणों के माध्यम से जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट समीचीन वचनों की, जिनवचनों की वंदना यहाँ की गई है। चूँकि प्रथम और चरम गाथा के मध्य में मंगलाचरण रूप गाथा का प्रयोग है, इसलिए इसे मध्य मंगल भी स्वीकारा गया है॥2॥

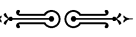

प्रतिज्ञा / ग्रन्थनाम

कादूण णमुक्कारं, जिणधम्मं धम्म-तित्थकत्तारं।
वोच्छामि धम्मसदगं, सग-पर-हिदाण-महं सम्मं॥3॥

अन्वयार्थ—(**जिणधम्मं**) जिन धर्म को, (**धम्म-तित्थकत्तारं**) धर्मतीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर देव को (**णमुक्कारं कादूण**) नमस्कार करके (**सग-पर-हिदाणं**) स्व-पर के हितार्थ (**सम्मं धम्मसदगं**) समीचीन धर्मशतक अपर नाम धर्म-मकरंद नामक ग्रन्थ को (**अहं**) मैं (**वोच्छामि**) कहूँगा॥3॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म को तथा धर्मतीर्थ के कर्ता को अर्थात् तीर्थंकर देव को नमस्कार करके स्वयं और पर के हित के लिये सत्यार्थ धर्मशतक अपर नाम धर्म-मकरंद नामक ग्रन्थ को मैं कहूँगा॥3॥

विशेषार्थ—इस गाथा में ग्रन्थ का नाम उल्लेखित किया है साथ ही साथ समीचीन ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा भी की है। यह प्रतिज्ञा जिनधर्म और जिनधर्मतीर्थ के कर्त्ता तीर्थेश को नमस्कारपूर्वक की है। ग्रन्थ लेखन का हेतु प्रकट करते हुये गाथा के अंतिम चरण में कहा है कि—**''स्व-पर का कल्याण हो यही इस ग्रन्थ के लेखन का प्रयोजन है। सर्वविदित है कि ग्रन्थों का वाचन, लेखन अथवा प्रकाशन स्व-पर के कल्याण के लिये ही किया जाता है; यही इस ग्रन्थ का भी प्रयोजन है॥3॥**

धर्म का स्वरूप

सम्मद्दंसण-णाणं, चरियं धम्मो कहेदि सव्वण्हू।
ववहारा णादव्वो, णिच्छयदो जाणगो भावो॥4॥

अन्वयार्थ—**(सम्मद्दंसण-णाणं चरियं)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र **(ववहारा धम्मो)** व्यवहार से धर्म **(णादव्वो)** जानना चाहिये। **(णिच्छयदो)** निश्चय से **(जाणगो भावो)** ज्ञायक भाव ही धर्म है; ऐसा **(सव्वण्हू कहेदि)** सर्वज्ञ देव कहते हैं॥4॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता व्यवहार धर्म है तथा निश्चय से ज्ञायक भाव ही जीव का धर्म है, ऐसा कथन सर्वदर्शी सर्वज्ञ देव ने किया है॥4॥

विशेषार्थ—अनन्तानन्त सर्वज्ञदेवों ने रत्नत्रय को व्यवहारधर्म कहा है। रत्नत्रय के अन्यत्र धर्म का स्वरूप और कुछ भी नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र; इन रत्नों से युक्त दिव्य माला ही रत्नत्रय की माला है।

'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढ़िक भी है और व्युत्पन्न अर्थात् लक्षणशास्त्रों से भी सिद्ध है। **'समञ्चति इति सम्यक्'।** लक्षणशास्त्र की इस व्युत्पत्ति के अनुसार—**''जो अच्छी प्रकार से प्रशंसनीय है, वह सम्यक् है''।** दर्शन, ज्ञान और चारित्र के पूर्व सम्यक् शब्द प्रयुक्त करने से इनका अर्थ हो जाता है—**प्रशंसनीय दर्शन, प्रशंसनीय ज्ञान और प्रशंसनीय चारित्र।** अगर कोई कहे कि—**''सम्यक्''** शब्द का अर्थ प्रशंसा में क्यों ग्रहण किया गया तो उसका उत्तर यह है—कि **'सम्यक्'** शब्द निपात सिद्ध भी है और निपात सिद्ध शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, उन अनेकार्थों में से **'प्रशंसा'** शब्द ग्रहण किया गया है।

सम्यग्दर्शन—दुरभिनिवेश रहित पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान अथवा स्वात्म-प्रत्यक्ष पूर्वक स्व-पर भेद का विवेक या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। किन्हीं को यह स्वभाव से हो सकता है और किन्हीं को उपदेशपूर्वक; परन्तु यह सम्यग्दर्शन भव्यों को ही होता है, अभव्यों को नहीं। साथ ही साथ मोक्षमार्ग में इसका सर्वोच्च स्थान है कारण कि—इसके अभाव में आगम-ज्ञान, दृढ़चारित्र, उग्र-तप, व्रत प्रभृति सम्पूर्ण कृत्य निरर्थक हैं।

सम्यग्ज्ञान—छह द्रव्यों का अथवा नव पदार्थों का अधिगम सम्यग्ज्ञान है। नय-प्रमाण के विकल्पपूर्वक जीवाजीवादि पदार्थों का यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है अथवा जब जीव सम्यग्दर्शन के प्रभाव से इतरपदार्थों से भिन्न निजस्वरूप को जानने लगता है, तब भेदज्ञान को प्राप्त होता है, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान ही श्रेयोमार्ग की संसिद्धि करने में समर्थवान् होने के कारण जीव को परमेष्ट (परमप्रिय) है।

सम्यक्चारित्र—सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग का प्रधानांग है। **तत्त्वार्थ की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना सम्यक्चारित्र है अथवा मन, वचन, काय से शुभ-कृत्यों में प्रवृत्ति करना सम्यक्चारित्र हैं। जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं।**

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप जो है, उसे ही व्यवहार धर्म जानो।

व्यवहारधर्म से जो विलक्षण रूप है वही निश्चयधर्म है। **जीव का निश्चयधर्म कुछ और नहीं है केवल ज्ञायकभाव है। शुद्धचैतन्य स्वभाव अथवा अनन्तगुणों का अखण्ड-पिण्ड एकमात्र चिद्रूप ही ज्ञायकभाव है।**

इन उभय धर्मों का व्याख्यान किसी रथ्या पुरुष ने नहीं, अपितु महामहर्षि, सर्वदर्शी, सर्वेश, सर्वज्ञ भगवान् ने किया है॥4॥

सम्यक्त्व का लक्षण

अट्ठट्ठा अट्ठा वा, सद्देव-समय-गुरूण सद्धाणं।
णिद्दोसा जदि अट्ठा, तदेव किल सुद्ध-सम्मत्तं॥5॥

अन्वयार्थ—(**अट्ठ-अट्ठा अट्ठा**) अर्थों पर आस्था होना आस्था अर्थात् श्रद्धा है, (**वा**) अथवा (**सद्देव-समय-गुरूण**) सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं पर (**सद्धाणं**) श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। (**जदि अट्ठा**) यदि वह आस्था (**णिद्दोसा**) निर्दोष है (**किल तदेव**) निश्चय से तब ही (**सुद्ध-सम्मत्तं**) शुद्ध-सम्यग्दर्शन होता है॥5॥

गाथार्थ—सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान होना सम्यक्त्व है अथवा पदार्थों पर श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। यदि वह श्रद्धान/आस्था दोष विमुक्त है, निर्दोष है निश्चय से तभी सम्यग्दर्शन भी शुद्ध-सम्यग्दर्शन होगा॥5॥

विशेषार्थ—इस अलंकार युक्त गाथा में सम्यक्त्व का लक्षण दर्शाते हुए बतलाया है कि—''अट्ठट्ठा अट्ठा'' **अर्थों पर आस्था का विद्यमान होना ही आस्था/ श्रद्धान है अर्थात् पदार्थों पर श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।** अथवा सच्चे देव अर्थात् अरिहंत-सिद्ध, सच्चे शास्त्र अर्थात् सर्वज्ञप्रणीत ग्रन्थ तथा सच्चे गुरु अर्थात् सर्व परिग्रह के त्यागी, सर्वंसह-दिगंबर-श्रमण, इन तीनों पर प्रगाढ़ श्रद्धान होना **सम्यक्त्व** है। गाथा के उत्तरार्ध में कहा गया कि—**यदि यह आस्था/श्रद्धान स्वदोष है अर्थात् चल-मलिन-अगाढ़ दोषों से संपृक्त है तो सम्यग्दर्शन शुद्ध संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता।** जो सम्यग्दर्शन स्वदोष होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है, अगर वह सम्यग्दर्शन निर्दोष होता है तो निश्चित ही वह क्षायिक संज्ञा को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।

जीवों को सिद्धि में साधनभूत जो सम्यग्दर्शन है, उसे अशुद्ध कैसे कहा जा सकता है? समाधानः—विवक्षा होने से अथवा स्वभावापेक्षा से सम्यग्दर्शन में शुद्ध-अशुद्धपना संप्राप्त है, इसलिये सम्यग्दर्शन को शुद्ध और अशुद्ध बोलने में कोई दोष नहीं है॥5॥

सम्यक्त्व के भेद

भासिय-सम्मदंसणं, णादव्वं दसविहं विवक्खाए।
एगं दुविहं तिविहं, चउविह-मणुजोग-भेदेणं॥6॥

अन्वयार्थ—(**भासिय-सम्मदंसणं**) पूर्वकथित सम्यग्दर्शन (**एगं दुविहं तिविहं**) एक, दो, तीन प्रकार का (**अणुजोगभेदेणं चउविहं**) अनुयोग के भेद से चार प्रकार का है अथवा (**दसविहं**) दश प्रकार का है। (**विवक्खाए णादव्वं**) ये सभी भेद विवक्षा से जानना चाहिये॥6॥

गाथार्थ—पूर्वकथित देवशास्त्रगुरु पर श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन विवक्षा के अनुसार एक, दो, तीन, चार अथवा दश प्रकार का है। प्रथमानुयोगादि के भेद से सम्यग्दर्शन चार प्रकार का जानना चाहिये॥6॥

विशेषार्थ—सामान्य से अभेद विवक्षा से सम्यग्दर्शन एक है। उत्पत्ति की अपेक्षा से निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है अथवा निश्चय और व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का है। यथा—

* **निसर्गज सम्यग्दर्शन**—जो स्वतः स्वभाव से बाह्योपदेश के बिना होता है वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** कहलाता है। जैसे काँटे की नोंक (काँटे का अग्रभाग)।

* **अधिगमज सम्यग्दर्शन**—जो परतः अर्थात् बाह्योपदेश पूर्वक जीवादि पदार्थों के परिज्ञान के निमित्त से होता है वह **अधिगमज सम्यग्दर्शन** कहलाता है। जैसे बाण का अग्रभाग (बाण की धार)।

अथवा

* **व्यवहार सम्यग्दर्शन**—वीतराग अर्हन्त को देव, दया को सर्वोत्कृष्ट धर्म एवं निर्ग्रन्थ को गुरु मानना, **व्यवहार-सम्यग्दर्शन** है। इस

व्यव-हार-सम्यग्दर्शन में हेय को हेय और अहेय को अहेय रूप जाना जाता है तथा यथावस्थित पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान किया जाता है।

* **निश्चय सम्यग्दर्शन**—शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचि अथवा विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप निजपरमात्मा में रुचिरूप जो है, वह **निश्चय-सम्यग्दर्शन है।** 'रागादि विकल्प रहित चित् चमत्कार भावना से उत्पन्न मधुर रस के आस्वादरूप सुख का धारक मैं हूँ'; ऐसा श्रद्धान **निश्चयसम्यग्दर्शन** है।

कर्म प्रकृतियों की विवक्षा होने से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है—**उपशम-सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन और क्षायिक-सम्य-ग्दर्शन।** यथा—

* **उपशम सम्यग्दर्शन**—जिस प्रकार पंकादि जनित कालुष्य के प्रशान्त होने पर जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन मोह के उदय के उपशान्त होने पर जो सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे **उपशम सम्यग्दर्शन** कहा जाता है। यह क्षायिक जैसा ही निर्मल व निस्सन्देह होता है। उपशम सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

* **क्षयोपशम सम्यग्दर्शन**—चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से, देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, वह **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** है। अथवा सम्यक्त्व का एकदेश रूप से वेदन करानेवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होनेवाला **वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** है।

* **क्षायिक सम्यग्दर्शन**—दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर उत्पन्न हुआ विशुद्ध श्रद्धान **क्षायिक सम्यग्दर्शन** कहा जाता है।

यह सम्यग्दर्शन नित्य है, निर्मल है, अक्षयानन्त है, मेरु की भाँति निष्प्रकम्प है तथा कर्मों के क्षय करने का कारण है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकार के सन्देह को भी नहीं करता और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय को भी प्राप्त नहीं होता है।

अनुयोगों की विवक्षा ग्रहण करने पर सम्यग्दर्शन के चतुर्भेद हो जाते हैं। इन अनुयोगों के विविध दृष्टिकोण से भी सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा की जाती है।

* **प्रथमानुयोग-सम्यग्दर्शन**—त्रयमूढ़ता और अष्टमद रहित तथा अष्टांग सहित जो समीचीन/परमार्थभूत आप्त, आगम और तत्त्वों की प्रतीति, रुचि, श्रद्धान है; वह प्रथमानुयोग विषयक सम्यग्दर्शन जानना चाहिये।

* **करणानुयोग-सम्यग्दर्शन**—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धान गुण की स्वाभाविक/नैसर्गिक परिणति को **करणानुयोग विषयक सम्यग्दर्शन** कहा है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से होता है।

* **चरणानुयोग-सम्यग्दर्शन**—चरणानुयोग की पद्धति में परमार्थ देव-समय और गुरु का मिथ्याभिनिवेश से रहित श्रद्धा करना निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा उसी की 44 दोषों से रहित जो प्रवृति है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

* **द्रव्यानुयोग-सम्यग्दर्शन**—द्रव्यानुयोग में प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सहित पुण्य-पाप; इन नव पदार्थों का व्याख्यान संप्राप्त होता है अतः द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान को बतलाया गया है। इसी अनुयोग के अन्तर्गत अध्यात्म ग्रन्थों में परद्रव्यों से पृथक्भूत आत्मद्रव्य की प्रतीति को भी सम्यग्दर्शन कहा जाता है, कारण कि—

प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय हो जाने पर अन्य स्वतः छूट जाता है।

बाह्य निमित्तों की प्रधानता से सम्यग्दर्शन के दस भेद किये जाते हैं। जैसा कि गुणभद्राचार्य ने भी कहा है—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमव-परमावादिगाढ़े च॥ आ. अनु.॥

अर्थ—आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ़सम्यक्त्व तथा परमावगाढ़सम्यक्त्व; इस प्रकार निमित्तों की प्रधानता से दर्शनार्थ दस प्रकार का जानना चाहिये।

(1) आज्ञा सम्यक्त्व—भगवद् अर्हत सर्वज्ञदेव की आज्ञामात्र को मानकर सम्यक्त्व को प्राप्त होना आज्ञारुचि है अथवा दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थादि के श्रवण के बिना केवल वीतरागप्रभु की आज्ञा से जो तत्त्वश्रद्धान उद्भूत होता है, उसे **आज्ञा-समुद्भूत सम्यक्त्व** जानो।

(2) मार्गसम्यक्त्व—मोक्षमार्ग निर्ग्रन्थलक्षण है, वस्त्रादि से वेष्टित पुरुष कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं होगा; ऐसा अभिप्राय रखते हुये मोक्षमार्ग में रुचि रखना मार्गरुचि है अथवा दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थादि के श्रवण के बिना जो परमोपकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान है, वह मार्ग-समुद्भव सम्यक्त्व कहलाता है।

(3) उपदेश सम्यक्त्व—रत्नत्रय एवं आत्मध्यान को प्रदान करनेवाले तिरेसठ शलाकापुरुष सम्बन्धी शुभचारित्र (वृतान्त) के सुनने से जो श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह उपदेशरुचि अथवा **उपदेश-समुद्भव सम्यक्त्व** कहा जाता है।

(4) सूत्र सम्यक्त्व—दीक्षादि के निरूपक आचारांगादि सूत्रों के श्रवण मात्र से सम्यक्त्व होना सूत्ररुचि है अथवा **सूत्र-समुद्भव सम्यक्त्व** है।

(5) बीज सम्यक्त्व—बीजपदों के ग्रहणपूर्वक सूक्ष्मार्थ तत्त्वार्थ रुचि होना बीजरुचि है अथवा काललब्धि वश मिथ्या अभिप्राय के नष्ट होने पर दर्शनमोह के असाधारण उपशम रूप आभ्यन्तर कारण से कठिनाई से व्याख्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों के बीजभूत शास्त्र से जो उत्पन्न होता है, वह **बीज-समुद्भव सम्यक्त्व** है।

(6) संक्षेपसम्यक्त्व—जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन से ही सम्यक्त्वोत्पत्ति होना संक्षेपरुचि है अथवा तत्त्वार्थसूत्रादि सिद्धान्तशास्त्रों में व्याख्यायित जीवादि के निरूपक अनुयोगों द्वारा संक्षेप से पदार्थों को जानकर श्रद्धान करना **संक्षेप-समुद्भव सम्यक्त्व** है।

(7) विस्तार सम्यक्त्व—अंगपूर्व के विषय, प्रमाणनयादि के विस्तार कथन से सम्यक्त्व होना विस्ताररुचि है अथवा जो भव्योत्तम द्वादशांग को सुनकर तत्त्वश्रद्धान को प्राप्त होता है, उसे **विस्तार-समुद्भव सम्यक्त्व** होता है।

(8) अर्थ सम्यक्त्व—वचन विस्तार के बिना केवल अर्थग्रहण से होने वाला सम्यक्त्व अर्थरुचि कहलाता है अथवा अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यश्रुत के बिना ही अंगबाह्य श्रुत में कथित किसी पदार्थ से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह **अर्थ-समुद्भव सम्यक्त्व** है।

(9) अवगाढ़ सम्यक्त्व—आचारांग द्वादशांग में जो श्रद्धान अतिदृढ़ है वह अवगाढ़रुचि है अथवा अंग और अंगबाह्य प्रवचनों का अवगाहन करके उत्पन्न हुआ श्रद्धान **अवगाढ़-समुद्भव सम्यक्त्व** कहलाता है।

(10) परमावगाढ़ सम्यक्त्व—परमावधि अथवा केवलज्ञानी के ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों का जो श्रद्धान होता है, उसे **परमावगाढ़-समुद्भव सम्यक्त्व** जानना चाहिये।

इस प्रकार पूर्वोक्त सभी भेद विवक्षा के अनुसार निर्विवाद रूप से आगम में स्वीकृत हैं॥6॥

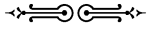

सम्यक्त्व के 44 दोष

मूढ-भय-मणायदणं, संकादी मय-विसण-मदिचारं।
जेसिं चोयालीसा, होंति ते ण होंति सद्दिट्ठी॥7॥

अन्वयार्थ—(**मूढ**) तीन मूढ़ता, (**भयं**) सप्त-भय, (**अणायदणं**) छह अनायतन, (**संकादी**) शंकादि आठ दोष, (**मय**) ज्ञानादि आठ मद, (**विसणं**) द्यूतक्रियादि सप्त व्यसन, तथा (**अदिचारं**) पाँच अतिचार; (**जेसिं**) जिनके भी, (**होंति चोयालीसा**) ये 44 दोष होते हैं (**ते**) वे (**ण होंति सद्दिट्ठी**) जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं॥7॥

गाथार्थ—त्रयमूढ़ता, सप्तभय, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष, ज्ञानादि आठ मद, सप्त व्यसन एवं सम्यक्त्व के पाँच अतिचार; जिन भी जीवों में ये 44 दोष विद्यमान होते हैं, वे जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं॥7॥

विशेषार्थ—लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता ये तीन मूढ़तायें कहलाती हैं। इस लोक भय, परलोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय, वेदना भय, आकस्मिक भय; ये सप्त भय कहलाते हैं। कुदेव, कुदेव के सेवक, कुतप, कुतपस्वी, कुशास्त्र और कुशास्त्र के धारक; इस प्रकार ये छह अनायतन प्रसिद्ध हैं। शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा (ग्लानि), मूढ़दृष्टित्व, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना; ये आठ दोष कहे जाते हैं। ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद और देहमद; इस प्रकार मद भी अष्टविध ही जानना चाहिये। सप्तव्यसन प्रसिद्ध हैं। यथा—द्यूतक्रीड़ा व्यसन, मांस सेवन व्यसन, मदिरापान व्यसन, आखेट व्यसन अर्थात् शिकार, चौर्य व्यसन, वेश्यागमन व्यसन और परवनिता व्यसन। शंका करना, आकांक्षा करना, ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना और मिथ्यादृष्टियों का स्तवन करना; ये पाँच अतिचार सम्यक्त्व विषयक जानना चाहिये। पूर्वोक्त मूढ़ता आदि 44 दोष जिस भी जीव में होते हैं, वह सम्यक्त्व से च्युत है। ऐसे जीव घोर धर्म और जप आदि करने पर भी सम्यग्दर्शन से विमुख हैं, मिथ्यादृष्टि ही हैं। आगे की गाथा में इन सम्पूर्ण दोषों का प्रतिपादन किया गया है॥7॥

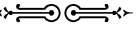

सम्यग्दृष्टि के 77 गुण

मूलोत्तर-वेरग्गं, भत्ति-णिब्भय-विसण-मल-मदिचारं।
सत्तहत्तरी एदे, दंसण-सावय-गुणा भणिया॥8॥

अन्वयार्थ—**(मूल-उत्तर)** अष्टमूलगुण, द्वादश उत्तरगुण, **(वेरग्गं)** द्वादश वैराग्य भावना, **(भत्ति)** भक्ति, **(णिब्भय-विसण-मलं अदिचारं)** निर्भयता अर्थात् सप्तभयों का अभाव, निर्व्यसनता अर्थात् सप्तव्यसनों का अभाव, निर्मलता अर्थात् 25 मलों का अभाव तथा पाँच अतिचार; **(एदे सत्तहत्तरी)** ये 77 **(दंसण-सावय-गुणा)** सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण हैं। **(भणिया)** ऐसा सर्वज्ञाता तीर्थंकरों ने कहा है॥8॥

गाथार्थ—अष्टमूलगुण, द्वादश उत्तरगुण, द्वादश वैराग्य भावना, भक्ति, निर्भयता, निर्व्यसनता, निर्मलता, निरतिचारत्व; ये 77 गुण सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने तीर्थंकर देवों ने आगम में कहा है॥8॥

विशेषार्थ—गाथा क्रमांक 7 में कथित 44 दोषों का अभाव होने पर 44 गुणों का प्रादुर्भाव होता है। मूढ़तादि 44 दोषों के अभावभूत 44 गुण तथा मूलोत्तरगुणादि 33 गुणों की संयोजना होने पर श्रावक के 77 गुण प्रकट होते हैं।

* **अष्टमूलगुण**—स्वामी समन्तभद्र ने मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ स्थूलहिंसा, स्थूलमृषा, स्थूलचौर्य, स्थूलाब्रह्म व स्थूलपरिग्रह से विरक्त होने को गृहस्थों के मूलगुण कहे हैं। अथवा किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के अभिमत में मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन एवं पंचोदुम्बर फलों का परित्याग, देववन्दना, जीवदया एवं जल गालन ये अष्टमूलगुण माने गये हैं। ये मूलगुण व्रती-अव्रती दोनों के हो सकते हैं।

1. **स्थूलहिंसात्यागव्रत**—नवकोटिरूप संकल्प से त्रसजीवों को नहीं मारना; स्थूलहिंसाविरक्तव्रत है।

2. स्थूलमृषात्यागव्रत—स्थूलझूठ न तो स्वयं बोलना, न ही दूसरों से बुलवाना तथा दूसरों की आपत्ति के कारणभूत सत्य को न स्वयं बोलना, न ही दूसरों से बुलवाना; स्थूलमृषाविरक्तव्रत है।

3. स्थूलचौर्यत्यागव्रत—किसी की रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई वस्तु को बिना दिये न लेना और अन्य को भी न देना; स्थूलचौर्यविरक्त-व्रत है।

4. स्थूलाब्रह्मत्यागव्रत—पाप के भय से परवनिता का न तो स्वयं सेवन करना और न ही अन्यों को सेवन की प्रेरणा देना; स्थूलाब्रह्मविरक्तव्रत है।

5. स्थूलपरिग्रहत्यागव्रत—क्षेत्र, मकान, धन, धान्य आदि दसों परिग्रहों का परिमाण रखकर उससे अधिक में अनिच्छा का होना, स्थूलपरिग्रह विरक्तव्रत है।

6. मद्यत्यागव्रत—रस द्वारा उत्पन्न हुये अनेक एकेन्द्रियादिक जीवों की योनिभूत मदिरा का सर्वदेश त्याग करना, मद्यविरक्तव्रत है।

7. मांसत्यागव्रत—जीवों की हिंसा से प्राप्त उनका कलेवर मांस कहलाता है, उसका त्याग मांसविरक्तव्रत है।

8. मधुत्यागव्रत—बहुत जीवों के घात से उत्पन्न तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति के साधनभूत मधु को त्याग करना, मधुविरक्तव्रत है।

* **द्वादश-उत्तरगुण**—श्रावक के बारह प्रकार के उत्तरगुण होते हैं। इन्हें ही बारह तप कहते हैं। इन तपों द्वारा अनादि के बँधे कर्म व संस्कार क्षणार्थ में विनष्ट हो जाते हैं। इन उत्तरगुणों/तपों का मोक्षमार्ग में बहुत बड़ा स्थान है इसी कारण इन्हें कर्मक्षयार्थ निरन्तर करते रहना चाहिये। स्वात्मबल और शक्ति का आश्रय कर क्षेत्र, काल, देहसंहनन आदि का ज्ञान करके द्वादश-तपों का पालन फलेच्छा के बिना करणीय है। अनशनादि उत्तरगुण सम्यक्त्व सहित ही तप अथवा गुण संज्ञा को प्राप्त होते हैं, अन्यथा वे निरर्थक हैं।

(1) अनशनगुण—कषाय के साथ चतुर्विध आहार का त्याग अनशन कहलाता है। अनशन को उपवास भी कहते हैं। यह उपवास नाना प्रकार के व्रतों के माध्यम से किया जा सकता है।

(2) अवमौदर्यगुण—अधिक भोजन से प्रमाद की वृद्धि होती है अतएव भूख से, उदर से कम भोजन करना अवमौदर्य अथवा ऊनोदरगुण है।

(3) वृत्तिपरिसंख्यानगुण—संकल्पपूर्वक निश्चित पात्रादि में भोजन की प्रवृत्ति करना वृत्ति परिसंख्यानगुण है।

(4) रसपरित्यागगुण—घृतादि गरिष्ठ रसों का त्याग करना रसपरित्यागगुण है। प्रतिदिन छह रसों में से एक रस का त्याग नियम और यम उभयरूप से भी किया जा सकता है।

(5) विविक्तशय्यासनगुण—जन्तुरहित, अत्यधिक सुख से रहित एवं शून्य प्रदेश में शय्यासन का लगाना; विविक्तशय्यासन नामक गुण है।

(6) कायक्लेशगुण—काय को विविध प्रकार से क्लेश देना छठा कायक्लेशगुण है। यह कायक्लेश नाना समय के लिये किया जा सकता है। भले ही एक मिनिट का ही क्यों न हो कायक्लेश करते रहना चाहिये।

(7) प्रायश्चित्तगुण—चित्तजनित अशुद्धि को अथवा प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित्तगुण है। प्रायश्चित्त आचार्यों द्वारा ही देने योग्य है, स्वयं या मुनि/आर्यिका/क्षुल्लक द्वारा देने योग्य नहीं है।

(8) विनयगुण—पूज्य पुरुषों का आदर/सम्मान करना विनयगुण है। यह विनयगुण जीव को विनम्र बनाकर रखता है और यही मोक्ष का द्वार कहा गया है।

(9) वैयावृत्त्यगुण—दूसरों की विपत्तियों का परिहार करना, हाथों से शरीर की सेवा करना अथवा शरीर की चेष्टा या अन्य द्रव्यों के द्वारा उपासना करना वैयावृत्त्य गुण है। जिसके अन्तस् में दया होगी उसी के अन्तस् में यह गुण होता है।

(10) स्वाध्यायगुण—चित्त को स्वस्थ्य रखने के लिये, पंचेन्द्रियों का निरोध करने के लिये आलस्य का त्याग करके ज्ञानाराधना करना स्वाध्यायगुण है।

(11) व्युत्सर्गगुण—अंतरंग व बहिरंग उपधि के त्याग के साथ

ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्गगुण है। काम, क्रोधादि अंतरंग उपधियाँ है एवं धनादि बहिरंग उपधियाँ हैं।

(12) ध्यानगुण—कर्मों की क्षपणार्थ शुभ परिणामों की एकाग्रता का नाम ध्यानगुण है। अशुभध्यानों का त्याग और शुभध्यानों को ग्रहण करना चाहिये।

*** द्वादश वैराग्यभावना**—द्वादशविध वैराग्य भावनायें भी श्रावकों के गुणों में रखी गयी हैं। ये भावनायें भव्यजीवों के लिये वैराग्य की जननी हैं। जिस प्रकार वायु अग्निशिखा की वृद्धि में कारण बनती है, उसी प्रकार बारह-वैराग्य भावनाये भी वैराग्य-वृद्धि में कारण बनती हैं। वैराग्य चारित्रोत्पत्ति में कारण है इसलिये प्रत्येक श्रावक को वैराग्य-भावनाओं का चिंतन सतत करणीय है। अनित्य, अशरण, एकत्व, संसार, अन्यत्व और अशुचि; ये छह भावनायें वैराग्योत्पादक हैं।

आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना; ये छह भावनायें तत्त्वचिन्तन रूप हैं।

(1) अनित्य-भावना—यह जीवन इन्द्रधनुष और जल के बुलबुलों के समान अनित्य है तथा ये मनुष्यादि पर्यायें क्षणभंगुर हैं; ऐसा चिंतन करना अनित्यभावना है।

(2) अशरण-भावना—इस जगत् में जीव के लिये मरण समय स्वात्मा और पंचपरमेष्ठी के सिवाय कोई और शरण नहीं है; ऐसा चिंतन करना अशरणभावना है।

(3) एकत्व-भावना—यह जीव अकेला ही कर्मों को करता है, अकेला ही संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही पुण्य-पाप को करता है और अकेला ही उसके फल को भोगता है; ऐसा चिंतन करना एकत्वभावना है।

(4) संसार-भावना—संसार में ऐसा कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव नहीं है जिसे इस जीव ने पुनः पुनः न ग्रहण किया हो; ऐसा चिंतन करना संसारभावना है।

(5) अन्यत्व-भावना—जब देहादि ही मेरे नहीं हैं तब ये पुत्र, भार्या, मित्र, शत्रु आदि मेरे कैसे हो सकते हैं; सब ही पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं; ऐसा चिंतन करना अन्यत्व भावना है।

(6) अशुचिभावना—यह शरीर सप्तधातुमय दुर्गंधित पदार्थों से युक्त अपवित्र है। यदि इसे समस्त जल से भी धोया जाये तो भी यह अशुचि ही रहेगा; ऐसा चिंतन करना अशुचिभावना है।

(7) आस्रव-भावना—प्रतिसमय मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के द्वारा कर्मों का आस्रव होता हैं यही आस्रव संसारभ्रमण का प्रधान हेतु है; ऐसा चिंतन करना आस्रवभावना है।

(8) संवर-भावना—गुप्ति, समिति आदि के द्वारा तथा तप के द्वारा भी कर्मों का आना रुक जाता है, यही संवर है, ऐसा चिंतन करना संवरभावना है।

(9) निर्जरा-भावना—आत्मप्रदेशों से कर्मों का एकदेश झर जाना/क्षय हो जाना निर्जरा है। यह निर्जरा तप करने से विपुलरूप से होती है; ऐसा चिंतन करना निर्जराभावना है।

(10) लोक-भावना—जिस क्षेत्र में छहों द्रव्य पाये जाते हों वह लोक है और ऊर्ध्व-मध्य-अधो के भेद से त्रिविध है; ऐसा चिंतन करना लोक भावना है।

(11) बोधि-दुर्लभ-भावना—रत्नत्रय ही बोधि है और उसकी लब्धि अत्यधिक दुर्लभ है; ऐसा चिंतन करना बोधि-दुर्लभभावना है।

(12) धर्म-भावना—दया के लाञ्छन से लाञ्छित अहिंसा-धर्म ही संसारवारिधि से पार लगाने वाला है। यही धर्म सुखों का मूल है, ऐसा चिंतन करना धर्म भावना है।

*** सप्तभयविमुक्तगुण**—'भीति' को अथवा जिसके उदय से उद्वेग होता है, उसे भय कहते हैं। उदय में आये हुये जिन कर्मस्कन्धों के द्वारा जीव के भय उत्पन्न होता है, उनकी कारण में कार्य के उपचार से 'भय' संज्ञा हैं

इसके भय के इहलोकादि सात भेद हैं और इन सप्तभयों से विमुक्त होना सप्तभयविमुक्तगुण अर्थात् निर्भयता है।

(1) इहलोक भय—इस भव में लोगों का डर रहना कि ये लोग न जाने मेरा क्या बिगाड़ करेंगे; यह इहलोक भय है।

(2) परलोक भय—परभव में न जाने मेरा क्या होगा, ऐसा भय चित्त में रखना परलोक भय है।

(3) अगुप्ति भय—जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हो, उसको अगुप्ति कहते हैं; वहाँ बैठने से जीव को जो भय उत्पन्न हो वह अगुप्ति भय है।

(4) अरक्षा भय—पर्याय के नाश के पहले आत्मा के नाश की रक्षा के लिये अक्षमता होना अरक्षा/अत्राण भय है।

(5) मरण भय—मैं सदा जीवित रहूँ, मेरा कभी मरण न होवे, इस प्रकार शरीर के नाश के विषय में जो चिंता होती है उसे मरण भय कहते हैं।

(6) वेदना भय—मैं सदैव निरोगी रहूँ, मुझे कभी भी कोई भी वेदना न हो, इस प्रकार की मूर्च्छा परिणति वेदना भय है।

(7) अकस्मात् भय—अकस्मात् ही उत्पन्न होनेवाले कारणों का भय होना अथवा वज्रपात, भूकंपन आदि से होनेवाले महान् दुःखों का भय अकस्मात् भय है।

*** सप्तव्यसनविमुक्तगुण**—निन्दनीय कृत्यों को करने की पुनरा-वृत्ति व्यसन कहलाती है। द्यूतक्रीडादि सप्तविध व्यसन जीवों को विषयान्ध बनाकर सप्तविध नरकों में ले जाते हैं। धर्म कार्यों से विमुख करने वाले व्यसन वास्तविकता में अनेकों हैं परन्तु प्रसिद्धि सप्तव्यसनों की ही जानना चाहिये।

(1) द्यूतक्रीड़ा—जुआ खेलना द्यूतक्रीड़ा है। इस द्यूतक्रीड़ा से धर्म, लक्ष्मी, यश, सुख, शौच, बुद्धि, सद्गति आदि सभी नष्ट हो जाती है।

(2) मांसाहार—मांस जीवों का कलेवर है, अवयव है उसका सेवन करना मांसाहार हैं यह मांसाहार घोर हिंसा ही है।

(3) मद्यपान—मोहनीय कर्म के समान मादकता उत्पन्न करनेवाला महाहिंसक पदार्थ मद्य/मदिरा है, उसका पान करना मद्यपान है।

(4) वेश्यासेवन—जो स्त्री अनेक पुरुषों का भोग करती है धन के लिये वह वेश्या कहलाती है उसका सेवन वेश्यासेवन है।

(5) शिकार—मूक, तृण भोजी मृगादि निरीह पशुओं का वध करना शिकार है। अथवा हिंसक-अहिंसक किसी भी जीव का वध करना शिकार है।

(6) चोरी—किसी भी रखी हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई वस्तु को उसकी स्वीकृति के बिना ग्रहण करना चोरी है।

(7) परस्त्रीसेवन—विवाहिता हो या अविवाहिता परस्त्री के साथ कामसेवन करना, मैथुनक्रिया करना, परस्त्री सेवन व्यसन है।

*** निरतिचारत्व गुण**—व्रतों को मलिन करनेवाला अतिचार कहा जाता है। व्रतों को शुद्ध रखने के लिये सर्वविध उपायों से अतिचारों से बचना चाहिये। सम्यग्दर्शन को मलिन करनेवाले पाँच अतिचार आगम में कहे गये हैं। इन्हें दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

(1) शंका—जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुये तत्त्व-उपदेश में संदेह करना अथवा सप्तभय करना; शंका नामक अतिचार है।

(2) कांक्षा—इस लोक अथवा परलोक में सांसारिक सुखों की चाह करना, कांक्षा नामक अतिचार है।

(3) विचिकित्सा—दुःखी-दरिद्री प्राणियों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र परन्तु बाह्य में मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना, विचिकित्सा नामक अतिचार है।

(4) अन्यदृष्टि-प्रशंसा—मिथ्यादृष्टियों और कुमार्गियों के ज्ञान-तप आदि को मन से अच्छा समझना, अन्यदृष्टि प्रशंसा नामक अतिचार है।

(5) अन्य दृष्टि-संस्तव—मिथ्यादृष्टियों और कुमार्गियों के ज्ञान-तप आदि की वचनों से प्रशंसा करना, अन्यदृष्टिसंस्तव नामक अतिचार है।

* **निर्मलता-गुण**—सम्यग्दर्शन को मलिन करनेवाले 25 मल दोष होते हैं। इन दोषों के अभाव में ही निर्मलता-गुण प्रकट होता है। तीन मूढ़ता, 6 अनायतन-सेवन, 8 शंकादि दोष तथा 8 मद से रहित श्रद्धान ही निर्मलता को प्राप्त हो पाता है। क्रम-क्रम से इन दोषों के स्वरूप को समझते हैं—

* **मूढ़ता**—मूढ़ता तीन प्रकार की होती है। लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता।

(1) लोकमूढ़ता—धर्म समझकर गंगा आदि नदियों में अथवा सागर में स्नान करना, बालू और पत्थरों का ढेर करना, पर्वत से गिरकर मर जाना और अग्नि में जल जाना लोकमूढ़ता है।

(2) देवमूढ़ता—आशावान् होते हुये वरदान की इच्छा करके राग-द्वेषरूपी मैल से मलिन देवताओं की उपासना देवमूढ़ता है।

(3) गुरुमूढ़ता—परिग्रह, आरम्भ और हिंसा युक्त संसारचक्र में परिभ्रमण करनेवाले पाखंडी साधु तपस्वियों का आदर, सत्कार, भक्ति, पूजादि करना गुरुमूढ़ता है।

* **छह अनायतन सेवन**—जो सम्यक्त्वादि गुणों का आयतन अर्थात् आधार करने का निमित्त होते हैं, उनको आयतन कहते हैं। इसके विपरीत जो है, उसे अनायतन कहते हैं। वह छह प्रकार का है—

1. मिथ्यादेव।
2. मिथ्यादेवाराधक।
3. मिथ्यातप।
4. मिथ्यातपस्वी।
5. मिथ्याशास्त्र।
6. मिथ्याशास्त्राराधक।

* **आठ मद**—ज्ञानादि आठ प्रकार से अपना बड़प्पन मानने को पूज्य गणधरादि ने मद कहा हैं गर्व, अभिमान, दर्प आदि मद के ही पर्यायवाची हैं। आठों ही मद सम्यक्त्वगुण के लिये शत्रुस्वरूप हैं।

(1) ज्ञानमद—मैं ज्ञानवान् हूँ, सकलशास्त्रों का ज्ञाता हूँ, ऐसी कल्पना एवं भाषण ज्ञानमद है।

(2) पूजामद—राजा-महाराजा मेरी सेवा करते हैं, मेरी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा है, यह पूजामद है।

(3) कुलमद—मेरा पितापक्ष अतीव-उज्ज्वल है, धनाढ्य है, बहुख्याति संपन्न है, ऐसा भाव जगाना कुलमद है।

(4) जातिमद—मेरी माता का पक्ष बहुत ऊँचा है, उनके परिवार के लोग संघपति हैं; ऐसी भावना जातिमद है।

(5) बलमद—मैं सहस्रभट हूँ, मेरी ताकत के आगे कोई टिक नहीं सकता, इत्यादि भाव बलमद है।

(6) ऋद्धिमद—मेरे पास अरबों रुपयों की सम्पत्ति थी, मैं उन सबको छोड़कर मुनि बना हूँ, इत्यादि स्व-ऐश्वर्य का मद करना ऋद्धिमद है।

(7) तपमद—मैं बड़े-बड़े तपों का अनुष्ठान कर चुका हूँ, मैं सभी मुनियों में श्रेष्ठ तपस्वी हूँ, इत्यादि भाव लाना तपमद है।

(8) रूपमद—मेरे रूप के सामने सभी का रूप तुच्छ है, मेरे रूप की कोई बराबरी नहीं कर सकता, इत्यादि भाव रूपमद है।

*** आठ शंकादि दोष**—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि—प्रशंसा, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना; ये आठ प्रकार के दोष सम्यग्दर्शन को मलिनता देते हैं। श्रावक हो या श्रमण उन्हें इन 8 दोषों को निःशंकित आदि आठ गुणों से हटाना चाहिये। यहाँ शंका आदि आठ अवगुणों का परिहार करनेवाले निःशंकितादि आठगुणों को समझते हैं—

(1) निःशंकितगुण—वस्तु का स्वरूप यही है, और नहीं है, इसी प्रकार का है अन्य प्रकार का नहीं है, इस प्रकार से जिनमार्ग में निश्चयश्रद्धान निःशंकित गुण है।

(2) निःकांक्षितगुण—इहलोक-परलोक संबंधी आकांक्षाओं से रहित होकर धर्माचरण करना, परभव में धर्म के फल की अभिलाषा नहीं करना, निःकांक्षितगुण है।

(3) निर्विचिकित्सागुण—स्वभाव से अपवित्र और रत्नत्रय से पवित्र ऐसे धर्मात्माओं के शरीर में ग्लानि न करना और उनके गुणों में प्रीति करना, सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा गुण है।

(4) अमूढ़दृष्टिगुण—कुमार्ग व कुमार्गियों में मन से सम्मत न होना, काय से सराहना नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करनी, अमूढ़ दृष्टिगुण है।

(5) उवगूहनगुण—अपने आप ही पवित्र जैनधर्म में, अज्ञानी तथा असमर्थ जनों के आश्रय से उत्पन्न हुई निंदा को दूर करना; उवगूहनगुण है।

(6) स्थितिकरणगुण—सम्यग्दर्शन वा चारित्र से डिगते हुये पुरुषों को, उसी में स्थित कर देना, स्थितिकरण-गुण है।

(7) वात्सल्यगुण—सम्यग्दृष्टि जीव का प्रियवचन बोलना, अत्यन्त श्रद्धा से धार्मिक जनों में भक्ति रखना, उनके अनुसार आचरण करना, वात्सल्यगुण है।

(8) प्रभावनागुण—अज्ञानरूपी अंधकार (मिथ्यात्व) को जैसे बने वैसे दूर करना, जिनमार्ग के सभी मतावलंबियों में प्रभाव प्रकट करना; प्रभावनागुण है।

*** निर्विघ्न भक्ति**—देव, शास्त्र और गुरुओं के प्रति बिना किसी व्यवधान के मन-वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति के साथ आराधना उपासना करना, निर्विघ्नभक्ति नाम का गुण है॥8॥

धर्म का मूल सम्यक्त्व

बीयं दुमस्स मूलं, सम्मत्तं तहवि मूल-धम्मस्स।
दंसणहीणं धम्मं, तिक्काले वंदणीयं ण॥9॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(दुमस्स मूलं बीयं)** वृक्ष का मूल अर्थात् जड़ बीज है, **(तहवि)** वैसे ही **(मूल-धम्मस्स)** धर्म का मूल/जड़ **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व है। **(धम्मं दंसणहीणं)** जो धर्म सम्यक्त्व से रहित है, वह धर्म **(तिक्काले)** तीनों कालों में **(ण वंदणीयं)** वंदनीय नहीं है॥9॥

गाथार्थ—जिस प्रकार वृक्ष का मूल/जड़ बीज होता है, उसी प्रकार धर्म का मूल/जड़ सम्यग्दर्शन होता है। जो धर्म सम्यक्त्व गुण से विहीन है, वह तीनों कालों में वंदनीय/नमस्करणीय नहीं है॥9॥

विशेषार्थ—हर सुदृढ़ वृक्ष के लिये सुन्दर बीज आवश्यक होता है। ठीक यही बात यहाँ कही गई कि—जैसे एक सुप्रगाढ़ वृक्ष का मूल उसका बीज माना जाता है, वैसे ही सुवरेण्य धर्म का मूल सम्यक्त्व माना जाता है। बीज के सद्भाव में वृक्ष का सद्भाव है और बीज के अभाव में वृक्ष का अभाव है, ठीक वैसे ही सम्यक्त्व का सद्भाव है तो ही सुधर्म का सद्भाव है, सम्यक्त्व का अभाव है तो फिर सुधर्म का भी अभाव है। बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि, स्थैर्य तथा फल असंभव हैं, सम्यक्त्व रूपी बीज के बिना भी धर्म रूपी कल्पवृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि, स्थैर्य तथा फल (मोक्ष फल) भी संभव नहीं हैं।

जो धर्म/दर्शन सम्यक्त्व विहीन है, जिस दर्शन में सम्यक्त्व गुण नहीं देखा जाता; वह दर्शन/धर्म वंदनीय नहीं है, पूज्यनीय नहीं है। यहाँ वंदना का निषेध किया गया है, लेकिन ध्यान रहे—अविनय या विवादादि की प्रेरणा नहीं दी गई। यह कथन व्यवहार से है।

निश्चय से आत्मा ही धर्म है और जो आत्मा दर्शनविहीन है, मिथ्यात्व रूपी कालिमा से आच्छादित है वह तीनों कालों में कदापि वंदनीय, पूज्यनीय, स्तुत्य नहीं है॥9॥

त्रैलोक्य को प्रकाशित करनेवाला रत्न

सम्मत्तरूव-रयणं, सयल-पदत्थेसु उत्तमं अत्थं।
तेलोयरूव-भवणं, तं सम्मपयासगं तेण॥10॥

अन्वयार्थ—(**सम्मत्तरूवरयणं**) सम्यक्त्वरूपी रत्न (**तेलोयरूव-भवणं**) त्रैलोक्यरूपी भवन को (**सम्मपयासगं**) अच्छे प्रकार से प्रकाशित करनेवाला रत्न है, (**तेण तं**) इसलिये वह (**सयल-पयत्थेसु**) कृत्स्न पदार्थों में (**उत्तमं अत्थं**) श्रेष्ठतम पदार्थ है॥10॥

गाथार्थ—सम्यक्त्वरूपी रत्न त्रैलोक्यरूपी दिव्य भवन को भले प्रकार से, सम्यक् प्रकार से प्रकाशित करनेवाला रत्न है, इसलिये समस्त पदार्थों में सम्यक्त्वरत्न श्रेष्ठतम पदार्थ अथवा वस्तु स्वीकारा जाता है, माना जाता है॥10॥

विशेषार्थ—इस गाथा में सम्यक्त्व की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। इस मानव जीवन में धन, सम्पत्ति, वैभव, मणि आदि पदार्थ सम्यक्त्व रूपी रत्न के सामने मलतुल्य हैं, मूल्यहीन हैं। दीपक, मणि, अग्नि आदि तो क्षेत्र विशेष को ही प्रकाशित करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व होते ही ज्ञान भी सम्यक्त्वपने को प्राप्त हो जाता है और ज्ञान के समीचीन होने पर लोकत्रय को जानने और देखनेवाला प्रकाश आत्मा में प्रकट हो जाता है।

अन्य पदार्थों, वस्तुओं, द्रव्यों की उपलब्धि कर पाना सामान्य बात है, किन्तु सम्यक्त्वरत्न की उपलब्धि अत्यन्त कठिन है। अतः बुद्धिमान, नीतिमान और भव्य जीवों को सम्यक्त्वरूपी रत्न की प्राप्ति का पुरुषार्थ सर्वप्रथम करना चाहिये। शेष वस्तुएँ हों न हों चलेगा, मगर सम्यक्त्व रत्न न हो तो संसारभ्रमण चलता ही रहेगा॥10॥

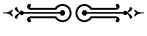

सम्यक्त्व सहित अल्पज्ञान ही सारभूत

सम्मत्तसहिद-मेत्तं, सारं समयट्ठ-माउ-सण्णाणं।
सम्मत्तरहिद-णाणं, सत्थाणं होदि णिस्सारं॥11॥

अन्वयार्थ—**(सम्मत्त-सहिद-मेत्तं)** सम्यक्त्व सहित मात्र **(समय-अट्ठ-माउ-सण्णाणं)** अष्ट प्रवचन मातृका सद्ज्ञान **(पि)** भी **(सारं)** सारभूत होता है, किन्तु **(सम्मत्त-रहिद-णाणं सत्थाणं)** सम्यक्त्व विहीन बहुत शास्त्रों का ज्ञान **(पि)** भी **(णिस्सारं होदि)** निस्सार होता है॥11॥

गाथार्थ—अष्ट प्रवचनमातृका का सद्ज्ञान मात्र अगर सम्यक्त्व सहित है तो वह सारभूत है, लेकिन सम्यक्त्व विरहित बहुशास्त्रों का ज्ञान भी निस्सार जानो, व्यर्थ जानो॥11॥

विशेषार्थ—ईर्यापथ-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान निक्षेण-समिति, उत्सर्ग-समिति; ये पञ्च समिति तथा मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति, कायगुप्ति; ये त्रय-गुप्ति। इन पञ्च समिति और त्रय-गुप्ति को ही आगम में अष्ट-प्रवचनमातृका स्वीकारा जाता है। कारण कि—जैसे माता सत्पथ दिखाकर संतान का मार्ग प्रशस्त करती है वैसे ही ये अष्ट-प्रवचन रूप मातायें भव्यरूप संतानों का मोक्षमार्ग प्रशस्त करती हैं।

यहाँ गाथा का भाव यह है कि—**सम्यग्दर्शन सहित अल्पज्ञान भी सारभूत है, फलदायक है परन्तु सम्यग्दर्शन रहित अर्थात् मिथ्यादर्शन सहित बहुश्रुतज्ञान/बहुशास्त्रों का ज्ञान भी निस्सार है, व्यर्थ है, निष्फल है; ऐसा जानना चाहिये।**

सम्यग्दर्शन रहित विपुल शास्त्राध्यन भी मात्र संसार का ही कारण है किन्तु सम्यग्दर्शन समृद्ध अष्टप्रवचन मातृका मात्र का ज्ञान भी संसारोच्छेदन में साधन है, ऐसा जानकर सभी भव्यजीवों को शास्त्राभ्यासादि सकल क्रियायें सम्यक्त्वरत्न के धारणपूर्वक ही करना चाहिये।।11।।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

जाणे वत्थुसरूवं, जाहातत्थं पदीवसरिसं वा।
एवं णिस्संदेहं, जं तं खलु जाण सण्णाणं॥12॥

अन्वयार्थ—(**जं**) जो (**वत्थुसरूवं**) वस्तुस्वरूप को (**जाहातत्थं**) याथातथ्य अर्थात् जैसा का तैसा (**जाणे**) जानता है (**वा**) अथवा (**पदीवसरिसं**) प्रदीप के सदृश है अर्थात् प्रदीप के समान पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला है (**एवं**) तथा (**णिस्संदेहं**) संदेह रहित है (**तं खलु**) निश्चय से उसे ही (**सण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान (**जाण**) जानो॥12॥

गाथार्थ—जो वस्थु के स्वरूप को जैसा का तैसा जानता है अर्थात् पञ्चास्तिकाय, छः द्रव्य सप्ततत्त्व, नवपदार्थादि के स्वरूप को जो याथातथ्य जैसा का तैसा जानता है, दीपक के समान सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा जो संदेह रहित है; निश्चय से उसे ही सम्यग्ज्ञान जानो॥12॥

विशेषार्थ—यहाँ सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहा गया है। गाथा के पूर्वार्ध में दो विशेषण और उत्तरार्ध में एक विशेषण के द्वारा सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया गया है। **प्रथम विशेषण है—''जाहातत्थं वत्थुसरूवं जाणे''।** प्रथम विशेषण में कहा कि—जो वस्तु के स्वरूप को पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, सप्ततत्त्व अथवा नवपदार्थों को उनके सम्यक् स्वरूप के अनुसार जानता है वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। जिस द्रव्य का जो स्वरूप है, उसका वैसा का वैसा ज्ञान होना याथातथ्य ज्ञान है।

दूसरा विशेषण है—''पदीवसरिसं''। इसका भाव यह है कि—ज्ञान प्रदीप के समान होता है। वह स्व-पर प्रकाशी होता है अर्थात् वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है और परार्थों को भी प्रकाशित करता है। अथवा अन्य विवक्षा से सकलपदार्थों को प्रकाशित करनेवाला है।

तृतीय विशेषण है ''णिस्संदेहं''। वह ज्ञान संदेह रहित होता है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसायादि दोष से रहित होने के कारण सम्यग्ज्ञान में निस्संदेहत्व गुण आविर्भूत होता है। ऐसा अभिप्राय जाना चाहिये॥12॥

सम्यग्ज्ञान के भेद

एगं दो पंचविहं, अणेयभेयं पुणो वि तं णाणं।
सण्णाणं हि पमाणं, जिणवरचंदेहि पण्णत्तं॥13॥

अन्वयार्थ—(**सण्णाणं हि पमाणं**) सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है (**पुणो तं णाणं**) और वह ज्ञान (**एगं दो**) एक प्रकार का है, दो प्रकार का है, (**पंचविहं**) पंच भेदवाला है (**अणेयभेयं पि**) अथवा अनेक भेदवाला भी है; (**जिणवरचंदेहि पण्णत्तं**) ऐसा जिनवरचंद्र अर्थात् जिनवरों में चन्द्र के समान केवली भगवन्तों ने कहा है॥13॥

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। वह सम्यग्ज्ञान एक, दो, पाँच अथवा अनेक भेदवाला है; ऐसा जिनवर देवों में चन्द्रमा के समान सुशोभित केवली भगवंतों का कथन है॥13॥

विशेषार्थ—इस गाथा में ही पद निश्चय के लिये है। अन्य ज्ञान प्रमाण नहीं है सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, ऐसा भाव निश्चित करने के लिये ''हि'' पद दिया गया है।

यहाँ सम्यग्ज्ञान के नाना भेद, नाना विवक्षाओं आधार पर किये गये हैं अर्थात् भेदाभेदात्मक दृष्टि से इन भेदों का कथन समझना चाहिये। यथा—

* **एक भेद**—जब अखण्ड ज्ञान को अभेद दृष्टि से देखते हैं तब वह भेद विरहित होता हुआ केवल एक ही जान पड़ता है, इसलिये वह एक प्रकार का है।

* **दो भेद**—जब हम ज्ञान को सिद्धांत या न्याय की दृष्टि से देखते हैं तब वह दो प्रकार का हो जाता है—परोक्ष और प्रत्यक्ष। परोक्ष ज्ञान, मतिश्रुत अथवा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से

विचित्र प्रकार का है। प्रत्यक्षज्ञान अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान अथवा सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद से समन्वित जानना चाहिये।

* **पाँच भेद**—समीचीनता की विवक्षा से ज्ञान के पाँच भेद हैं। यथा—मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान ये पाँच समीचीन ज्ञान है।

* **अनेकभेद**—इन्हीं समीचीन ज्ञानों के अवान्तर भेदों की अपेक्षा से सम्यग्ज्ञान के अनेकभेद हो जाते हैं। ऐसा जानना चाहिये॥13॥

सम्यग्ज्ञान की परिभाषा और सामान्य भेद

जं जाणदि तं णाणं, जेण पदत्थाण होदि सब्बोहं।
मदि-सुदोहि-मणपज्जय-केवलणाणाइं च सण्णाणं॥14॥

अन्वयार्थ—(**जं जाणदि तं णाणं**) जो जानता है वह ज्ञान है (**वा**) अथवा (**जेण पदत्थाण**) जिससे पदार्थों का (**सब्बोहं होदि**) सद्बोध होता है (**तं णाणं**) वह ज्ञान है। (**मदि-सुदोहि-मणपज्जय-केवलणाणं**) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान (**सण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान हैं॥14॥

गाथार्थ—जो जानता है वह ज्ञान कहलाता है अथवा जिसके द्वारा नव पदार्थों का सम्यग्बोध होता है उसे ज्ञान जानना चाहिये। वह सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से भी जाना जा सकता है॥14॥

विशेषार्थ—इस गाथा में सम्यग्ज्ञान की परिभाषायें एवं भेदों का निरूपण किया गया है। परिभाषा/ लक्षण कहते हुये लिखा है—''**जो जानता है वह ज्ञान है।**'' चूँकि सम्यग्दर्शन से जाना नहीं जाता, सम्यग्दर्शन से सिर्फ देखा जाता है, वस्तु को जानने का उपाय सिर्फ सम्यग्ज्ञान है; इसलिये गाथा में कहा गया कि—''**जिसके माध्यम से पदार्थों का भली प्रकार से परिज्ञान होता है, उसे ज्ञान जानो**''। इस सम्यग्ज्ञान के मुख्य पाँच भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

मतिज्ञान—जो पाँच इन्द्रियों अथवा मन की सहायता से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुये पदार्थ को विशेष रूप से जानता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान—जो पाँच इन्द्रियों अथवा मन की सहायता से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुये पदार्थ को विशेष रूप से जानता है, श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—जो इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूपी पदार्थों को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा लिये हुये एक देश स्पष्ट जाने, उसे अवधि-ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान—जो किसी भी अन्य पुरुषादि के मन में स्थित रूपी पदार्थों के एकदेश को स्पष्ट जाने, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान—जो सम्पूर्ण द्रव्यों को तथा उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने, उसे केवलज्ञान कहते हैं॥**14**॥

ज्ञानधारण का उद्देश्य

जहा धणं संधत्ते, दाणस्स भोगस्स य धणिग-जीवो।
तह णाणं संधत्ते, णाणी जीवो वि चरियट्ठं॥15॥

अन्वयार्थ—(**जहा**) जिस प्रकार (**धणिग-जीवो**) धनवान् व्यक्ति (**धणं**) धन को (**दाणस्स य भोगस्स**) दान अथवा भोग के लिये ही (**संधत्ते**) धारण करता है, (**तह**) उसी प्रकार (**णाणी जीवो**) ज्ञानी जीव (**अवि**) भी (**णाणं**) ज्ञान को (**चरियट्ठं**) चारित्र के लिये (**संधत्ते**) धारण करता है॥15॥

गाथार्थ—जैसे कोई धनवान् पुरुष दान के लिये अथवा भोग के लिये धन को धारण करता है, ग्रहण करता है; ठीक वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी चारित्र धारण करने के लिये ज्ञान को धारण करता है, उसे ग्रहण करता है॥15॥

विशेषार्थ—इस गाथा सूत्र में ज्ञानधारण करने का प्रयोजन समझाते हुये पहले कहा कि—जैसे धन के ग्रहण अथवा उसके धारण करने का प्रयोजन दान अथवा भोग है, अन्य किसी भी उद्देश्य से धन का ग्रहण नहीं किया जाता और अगर किया जाता है तो वह प्रयोजन/उद्देश्य निरर्थक माना जाता है और ऐसा निरर्थक धन संग्रह करनेवाला धनिक अविवेकी/मूढ़ समझा जाता है, जगत् में हास्य और निंदा का पात्र बनता है। यह तो हुआ दृष्टान्त।

आगे द्राष्टान्त का कथन करते हुये कहा कि—ठीक उसी प्रकार ज्ञान को ग्रहण अथवा धारण करने का प्रयोजन सिर्फ और सिर्फ चारित्र की लब्धि है अन्य किसी और धनार्जन/प्रभावनादि के प्रयोजन से नहीं किया जाता है, अगर किया जाता है तो उस ज्ञानधारण करने का प्रयोजन निरर्थक समझना चाहिये। कारण कि—निर्वाण/संसिद्धि प्रभावना या धनार्जन से नहीं चारित्र से ही संभव है। साथ ही साथ ऐसा निरर्थक ज्ञान संग्रह करनेवाला शास्त्रज्ञ जीव ज्ञानी होकर भी अज्ञानी समझा जाता है तथा जगत् में हास्य और निंदा का पात्र बनता है। ऐसा जानकर ज्ञानार्जन का उद्देश्य चारित्रार्जन ही समझना चाहिये।।15।।

सम्यक्चारित्र का लक्षण

कम्मादाण-णिमित्तं, किरियाचागं हु सम्मचारित्तं।
संसारकारणं वा, वर-वद-समिदिगुत्ति-रूवं च॥16॥

अन्वयार्थ—(**संसारकारणं**) संसार के कारणभूत (**कम्म-आदाण-णिमित्तं**) कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत (**किरियाचागं**) क्रिया के त्याग होने को (**हु**) ही (**सम्मचारित्तं**) सम्यक्चारित्र कहते हैं (**वा**) अथवा (**वर-वद-समिदि-गुत्तिरूवं**) पंचमहाव्रत, पंचसमिति और त्रयगुप्तिरूप (**च**) सम्यक्चारित्र है; ऐसा समझना चाहिये॥16॥

गाथार्थ—संसार के विकास में कारण तथा कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रियाओं का त्याग होना सम्यक्चारित्र है अथवा श्रेष्ठव्रत अर्थात् महाव्रत, समिति और गुप्तिरूप जो होता है सही सम्यक्चारित्र है; ऐसा जानना चाहिये॥16॥

विशेषार्थ—इस गाथा में दो प्रकार से सम्यक्चारित्र के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम तो उन क्रियाओं के त्याग को सम्यक्चारित्र कहा है।

जो संसार ऐसा करे संसाररूपी गहनसमुद्र का वर्धन करनेवाली हों साथ ही साथ कर्मों के आगमन में निमित्तरूप हों। इसके बाद पंचमहाव्रत, पंचसमिति और त्रयगुप्तिमय जो हो वह भी सम्यक्चारित्र समझना चाहिए; ऐसा कहा गया है।

(सम्म) सम्यक् विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिये दिया गया है। ''वर'' विशेषण श्रेष्ठ, उत्तम अर्थ में किया गया है। ''हु'' अव्यय का प्रयोग निश्चयात्मक दृष्टि से किया गया है॥16॥

सम्यक्चारित्र के भेद

एगं दुविहं तिविहं, पंच-तयोदसविहं व चारित्तं।
ववहारा णिच्छयदो, आदा खलु होदि चारित्तं॥17॥

अन्वयार्थ—(**ववहारा**) व्यवहारनय से (**चारित्तं**) सम्यक्चारित्र (**एगं दुविहं तिविहं**) एक प्रकार का है, दो प्रकार का है, तीन प्रकार का भी है (**व**) अथवा (**पंच-तयोदस-विहं**) पंचप्रकार का है या फिर तेरह प्रकार का है (**णिच्छयदो**) निश्चयनय से (**आदा खलु**) आत्मा ही (**चारित्तं होदि**) सम्यक्चारित्र है॥17॥

गाथार्थ—व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र एक, दो, तीन, पाँच अथवा तेरह प्रकार का है, परन्तु निश्चयनय से आत्मा ही सम्यक्चारित्र है; ऐसा जानो॥17॥

विशेषार्थ—यहाँ उभयनयात्मक विवक्षा से सम्यक्चारित्र के भेदों का व्याख्यान किया गया है। व्यवहारनयापेक्षा सम्यक्चारित्र को जब एक अखण्ड रूप में देखते हैं, तब वह अभेद दृष्टि से एक रूप है। जब सम्यक्चारित्र को श्रमण और श्रावक की चर्या में भेदापेक्षा से ग्रहण करते हैं तब वह दो प्रकार का हो जाता है—सकलचारित्र और विकलचारित्र। इसमें से प्रथम भेदवाला सकलचारित्र अनगारी अर्थात् श्रमण/श्रमणियों के होता है तथा विकलचारित्र जो कि ग्यारह प्रभेदों से युक्त है, वह आगारी अर्थात् श्रावक-श्राविकाओं के होता है।

जब सिद्धांत की विवक्षा सामने आती है तब सम्यक्चारित्र सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यात-चारित्र के भेद से पंचविध जानना चाहिये।

अनगारियों की विवक्षा से भेद करने पर सक्यक्चारित्र पंचमहाव्रत, पंचसमिति और त्रयगुप्ति के भेदों से तेरह प्रकार का जानना चाहिये।

निश्चयनय से अभेदरूप कल्पना करने से चारित्र का कोई भेद नहीं है। शुद्धचैतन्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी अनंतगुणवान् असंख्यप्रदेशी निर्विकार आत्मा ही सम्यक्चारित्र है। चारित्र वास्तव में धर्म है। निश्चयदृष्टि से स्व में अर्थात् स्वज्ञानस्वभाव में ही निरंतर रमण करने का नाम चारित्र है॥17॥

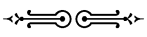

मनुष्य जीवन का सार सम्यक्त्व

सम्मं णरस्स सारो, तादो णाणं पि होदि सण्णाणं।
ताओ होदि चरित्तं, चरियफलं होदि णिव्वाणं॥18॥

अन्वयार्थ—(**णरस्स सारो**) नर जीवन का सार (**सम्मं**) सम्यक्त्व है, (**तादो**) सम्यग्दर्शन/सम्यक्त्व के ही कारण (**णाणं**) ज्ञान (**पि**) भी (**सण्णाणं**) सम्यग्ज्ञान (**होदि**) हो जाता है (**तादो**) इन दोनों से ही (**चारित्तं होदि**) चारित्र प्राप्त होता है (**च**) और (**चरियफलं**) चारित्र का फल (**णिव्वाणं होदि**) निर्वाण/मोक्ष होता है॥18॥

गाथार्थ—नर/मनुष्य जीवन का सार सम्यक्त्व है, इसी सम्यक्त्व के प्रभाव से ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के कारण चारित्र की लब्धि होती है एवं चारित्र का फल निर्वाण होता है॥18॥

विशेषार्थ—यहाँ मनुष्य जीवन के सार का कथन करते हुये कहा गया कि—सम्यक्त्व/सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मनुष्य भसव की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। कारण कि सम्यग्दर्शन के ही कारण ज्ञान में सम्यक्त्वपना उत्पन्न हो पाता है और ज्ञान सम्यग्ज्ञान संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की लब्धि के पश्चात् ही चारित्र की लब्धि होती है, बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के चारित्र में समीचीनता का सद्भाव असंभव है, इस ही लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से चारित्र प्राप्त होता है, ऐसा कथन किया गया।

अंत में निर्वाण सुख का निरूपण करते हुये कहा गया है कि—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के माध्यम से जो चारित्र प्राप्त हुआ था उसका फल ही निर्वाण है। सम्यक्त्व से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, निर्वाण की प्राप्ति चारित्र की पूर्णता से होती है। ऐसा जानना चाहिये॥18॥

भ्रष्टों में भ्रष्ट

सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
जे तिविहेसुं भट्ठा, भट्ठेसुं घोर-भट्ठा ते॥19॥

अन्वयार्थ—(**दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं**) सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु (**चरियभट्ठा सिज्झंति**) चारित्र से भ्रष्ट प्राणी सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं। लेकिन (**जे तिविहेसुं भट्ठा**) जो प्राणी तीनों से भ्रष्ट हैं, (**ते**) वे प्राणी (**भट्ठेसुं घोर-भट्ठा**) भ्रष्टों में घोर भ्रष्ट हैं॥19॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से च्युत/भ्रष्ट प्राणी की सिद्धि नहीं हो सकती परन्तु चारित्र से च्युत/भ्रष्ट प्राणी संसिद्धि अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर सकता है, लेकिन जो प्राणी तीनों से च्युत / भ्रष्ट है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से च्युत / भ्रष्ट है, उन्हें भ्रष्टों में अत्यन्त-भ्रष्ट जानना चाहिये॥19॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हो जाते हैं वे ही यथार्थ में पतित कहे जाते हैं। सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य को समस्त कर्मों का क्षय हो जाना जिसका लक्षण है ऐसा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य नरकादि गतियों में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता रहता है। इसके विपरीत जो चारित्र से भ्रष्ट हैं अर्थात् श्रावक तथा श्रमण पद के योग्य ब्रह्मचर्यादि व्रतों से भ्रष्ट हैं वे भवितव्यता जागने पर, अनुकूल निमित्त का लाभ होने पर थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जो तीनों की अपेक्षा भ्रष्ट/पतित हो चुका है अर्थात् सादि मिथ्यादृष्टि बन चुका है वह प्राणी लक्ष्य भ्रष्ट होने के कारण विशिष्ट भ्रष्ट समझा जाना चाहिये। ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये।

गाथा में ''ज्ञानभ्रष्ट'' की चर्चा नहीं की गई, क्योंकि दर्शनभ्रष्ट में उसका समावेश हो जाता है। यहाँ दर्शनभ्रष्ट से दर्शन और ज्ञान भ्रष्ट अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कारण कि—जो दर्शन से भ्रष्ट होगा वह नियम से ज्ञान भ्रष्ट भी होगा॥19॥

जीव द्रव्य और अन्यद्रव्यों का धर्म

णिहिल-दव्वाण धम्मो, उप्पाद-विणास-धोव्व-संजुत्तो।
तहा सज्जीव-धम्मो, जीवाणं रक्खणं होदि॥20॥

अन्वयार्थ—**(उप्पाद-विणास-धोव्व-संजुत्तो)** उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य से जो संयुक्त है, वही **(णिहिल-दव्वाण धम्मो)** सम्पूर्ण द्रव्यों का धर्म है। **(तहा)** तथा **(जीवाणं रक्खणं)** जीवों की रक्षा करना **(सज्जीव-धम्मो)** सुदृष्टि जीवों का धर्म **(होदि)** है॥20॥

गाथार्थ—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मय है अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है, वही सम्पूर्ण द्रव्यों का धर्म जानना चाहिये तथा जीवों की रक्षा करना, उन पर दया करना सम्यग्दृष्टि जीव का धर्म है॥20॥

विशेषार्थ—सामान्य से जो जो द्रव्य हैं सभी का धर्म उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है, कोई भी द्रव्य/तत्त्व/पदार्थ किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में किसी भी भाव में इन धर्मों से रहित नहीं होता।

विशेष करके सम्यग्दृष्टि जीव के धर्म की जब चर्चा आती है तो वह दयामय भावों से ओतप्रोत रहता है अर्थात् संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति उसके मन के साथ-साथ क्रियाओं में भी दयाभाव रहता है कारण कि— अनुकम्पा सम्यग्दृष्टि जीव का लक्षण है। सुदृष्टि जीव नेत्रेन्द्रिय से देखे जानेवाले जीवों के साथ साथ, जो चरम चक्षु के अगोचर हैं, आँखों से नहीं देखे जाते हैं उन पर भी दया भाव रखता है उनकी भी रक्षा का उपक्रम सतत/ अविरल करता रहता है॥20॥

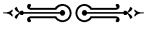

उत्तमधर्म के भेद

खमा य मद्दव-अज्जव-सोच्चं सच्चं च संजमं तवसं।
चाग-मकिंचण्ह-बंभं, दसविहं उत्तमं धम्मं॥21॥

अन्वयार्थ—**(उत्तमं खमा मद्दव-अज्जव य)** उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, में उत्तमार्जव **(सोच्चं सच्चं संजमं तवसं)** उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तमतप, **(चागं अकिंचण्ह-बंभं च)** उत्तमत्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तमब्रह्मचर्य; **(दसविहं उत्तमं धम्मं)** ये दशभेद उत्तमधर्म के जानना चाहिये॥21॥

गाथार्थ—उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमार्जव, उत्तमशौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तमाकिंचन्य और उत्तमब्रह्मचर्य; ये दशधर्म उत्तमधर्म कहे जाते हैं॥21॥

विशेषार्थ—गाथा में प्रयुक्त ''उत्तम'' विशेषण का संबंध प्रत्येक धर्म से करना चाहिये। यथा—उत्तमक्षमा, उत्तमतप इत्यादि।

उत्तमक्षमा—क्रोध उत्पन्न करनेवाले बाह्याभ्यंतर कारणों के उपस्थित होने पर भी किंचित् मात्र भी क्रोध न करना, कालुष्य उत्पन्न न होने देना उत्तमक्षमा धर्म है।

उत्तममार्दव—कुल, रूप, जाति, बुद्धि, ज्ञान, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में किंचित् मात्र भी गर्व/मदादि के आवेशवश होनेवाले अभिमान का अभाव उत्तममार्दव धर्म है।

उत्तमार्जव—कुटिलभावों को छोड़कर निर्मल हृदय से आचरण करना अथवा योगों का वक्र न होना उत्तमार्जव धर्म है।

उत्तमशौच—प्रकर्ष लोभ का परित्याग होना अथवा कांक्षाभाव से विमुक्त होकर वैराग्यभावना से ओतप्रोत होना, उत्तमशौच धर्म कहलाता है।

उत्तमसत्य—सज्जनपुरुषों के साथ साधुवचन बोलना अथवा संतापोत्पादक क्लेशयुक्त वचनों को छोड़कर स्वपर-हितैषी वचनों का संभाषण करना, उत्तमसत्य धर्म कहा जाता है।

उत्तमसंयम—मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप दण्ड का त्याग करके, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके, व्रत-समित्यादि के परिपालन में प्रवृत्ति करना अथवा प्राणियों और इन्द्रियों का परिहार करना, उत्तमसंयम जानना चाहिये।

उत्तमतप—स्वाध्याय और ध्यान के बल से पंचेन्द्रिय के विषयों तथा क्रोधादि कषायों का निग्रह करना अथवा कर्मक्षयार्थ तप करना, उत्तमतप धर्म जानो।

उत्तमत्याग—संयत के योग्य ज्ञानादि का ज्ञान करना अथवा समस्त परद्रव्यों से निर्ममत्व होकर संसार, शरीर, भोगों से उदासीन भाव रखना, उत्तमत्याग धर्म है।

उत्तमाकिंचन्य—द्विविध परिग्रह से निःसंग होकर, सुख-दुःखदायक कर्मजनित इष्टानिष्ट विकल्पों का निग्रह करके निर्द्वन्दतापूर्वक समतापूर्वक प्रवर्तन करना, उत्तमाकिंचन्य धर्म है।

उत्तमब्रह्मचर्य—स्वच्छंदवृत्ति का त्याग करने के लिये गुरुकुल में निवास करना अथवा स्त्रियों के सर्वांगों को देखते हुये भी अपने परिणामों में रागभाव नहीं करना, पवित्र उत्तमब्रह्मचर्य धर्म है॥21॥

धर्म के दो भेद

अहवा दुविहो धम्मो, सावयधम्मो य समणधम्मो य।
सावय-धम्मं चत्ता, कुज्जा रमणं समण-धम्मे॥22॥

अन्वयार्थ—**(अहवा)** अथवा **(धम्मो दुविहो)** धर्म दो प्रकार का है **(समणधम्मो सावयधम्मो य)** श्रमणधर्म और श्रावक धर्म। **(सावय-धम्मं चत्ता)** इसमें भी श्रावकधर्म को छोड़कर **(समण-धम्मे)** श्रमणधर्म में **(रमणं कुज्जा)** रमण करना चाहिये॥22॥

गाथार्थ—श्रमणधर्म और श्रावकधर्म की अपेक्षा से धर्म के दो भेद है। इन दोनों धर्मों में से जो श्रावक धर्म है उसे त्याग करके श्रमणधर्म में रमण करो/करना चाहिये॥22॥

विशेषार्थ—सकलधर्म और विकलधर्म के भेद से धर्म दो प्रकार का है जिसे सामान्यतः श्रमणधर्म और श्रावकधर्म से सकलतत्त्वमनीषी लोग जानते हैं। इसमें से प्रथम श्रमणधर्म तेरह प्रकार के चारित्ररूप है अथवा अट्ठाईस (28) मूलगुणों से जो समन्वित होता है उसे श्रमणधर्म जानना चाहिये।

विकलधर्म अथवा श्रावकधर्म तीन प्रकार का है—अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। इनमें से अणुव्रतों के पाँच भेद है, गुणव्रतों के तीन भेद हैं और शिक्षाव्रत के चार भेद हैं। कुल मिलाकर इनकी संख्या बारह हो जाती है। परवर्ती और अपरवर्ती आचार्यों में संख्या की अपेक्षा कोई मतभेद नहीं है परन्तु व्रतों की अपेक्षा मतभेद है। कोई आचार्य सल्लेखना को शिक्षाव्रत स्वीकारते हैं तो किन्हीं ने सल्लेखना के स्थान पर वैयावृत्त्य को ग्रहण किया है। विभिन्न श्रावकाचार के तलस्पर्शी अध्ययन से इसका परिज्ञान हो जाता है।

विशेष बात यह है कि श्रावकधर्म साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं है, वह परम्परा से निर्वाण का साधन है, परन्तु श्रमणधर्म साक्षात् मोक्ष का साधन है। कारण कि पंचसूना से जो युक्त है उसका मोक्ष जाना असंभव है। इसलिये भव्यात्माओं को श्रावकधर्म छोड़कर अर्थात् उससे ऊपर उठकर श्रमणधर्म में प्रीतिपूर्वक रमण करना चाहिए, क्योंकि वह साक्षात् संसिद्धि का साधन है। ऐसा अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए॥22॥

श्रावक धर्म के त्याग बिना मोक्ष नहीं

णवि लहदि मोक्खलच्छिं, सावय-धम्माण विणा य चागेण।
जदिवि पकुव्वदि घोरं, अज्झयणं तह तवं झाणं॥23॥

अन्वयार्थ—(**सावय-धम्माण**) श्रावक धर्मों के (**चागेण विणा**) त्याग के बिना (**मोक्खलच्छिं णवि लहदि**) मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती है। (**जदिवि**) चाहे (**घोरं तवं**) घोर तप (**य**) अथवा (**घोरं अज्झयणं**) घोर अध्ययन (**तह**) तथा (**घोरं झाणं**) घोर ध्यान भी (**पकुव्वदि**) किया जाये॥23॥

गाथार्थ—यद्यपि श्रावक घोर तप, अध्ययन, ध्यान भी कर ले तब भी श्रावक धर्म के त्याग के बिना मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती है॥23॥

विशेषार्थ—श्रावकधर्म का अर्थ श्रावकपद है। यहाँ धर्म छोड़ने से तात्पर्य भ्रष्ट/पतित होना नहीं है। यहाँ पदोन्नति के भावों को ग्रहण करना चाहिये। श्रावकपद या श्रावकधर्म से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है इस मान्यता का निरसन करने के लिये श्रावकधर्म का त्याग अर्थात् श्रमणधर्म का ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। मोक्ष की प्राप्ति/निर्वाण सुख का वेदन ज्ञानाराधना, घोरतपश्चरण तथा दुर्धर ध्यान करने के साथ-साथ निर्वाण पद के योग्य मुनिपद से ही संभव है। ऐसा अभिप्राय समझना॥23॥

रत्नत्रय से ही मोक्ष

अरुहादो सुदंसणं, जिणवयणादो लहेदि सण्णाणं।
समणादो चारित्तं, तिविहेण लहेदि णिव्वाणं॥24॥

अन्वयार्थ—**(अरुहादो सुदंसणं)** अरिहन्त परमेष्ठी से सम्यग्दर्शन **(लहेदि)** प्राप्त होता है, **(जिणवयणादो सण्णाणं)** जिनेन्द्र के वचन से/जिनवाणी से सम्यग्ज्ञान **(लहेदि)** प्राप्त होता है, **(समणादो चारित्तं)** श्रमणों से चारित्र **(लहेदि)** प्राप्त होता है। एवं **(तिविहेण णिव्वाणं)** तीनों की एकता से निर्वाण **(लहेदि)** प्राप्त होता है॥24॥

गाथार्थ—अरिहन्त परमेष्ठियों के दर्शन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, जिनवचनों के श्रवण से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, श्रमणों के सामीप्य से चारित्र की प्राप्ति होती है एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता से निर्वाण की समुपलब्धि होती है॥24॥

विशेषार्थ—रत्नत्रय जो मोक्ष में साधन है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही है। इन रत्नों में सम्यग्दर्शनरूपी रत्न की लब्धि प्राणियों को अरिहन्त परमेष्ठी के सुमंगल दर्शनों से प्राप्त हो सकती है, गणधर भगवन् गौतम स्वामी (इन्द्रभूति) के समान। द्वितीयरत्न अर्थात् सम्यग्ज्ञान की लब्धि जिनवर के परमेष्ट, दिव्योपदेश समन्वित, कल्याणकारक वचनों के पठन/श्रवण से प्राप्त हो सकता है; शिवकोटि मुनि के समान। तृतीय और महत्वपूर्ण रत्न अर्थात् सम्यक्चारित्र की प्राप्ति श्रमणवृंदों के सामीप्य, सन्निधि से भव्यात्माओं को प्राप्त हो सकती है; वज्रबाहु मुनिराज के समान।

निर्वाण की प्राप्ति इन तीनों रत्नों की एकता से ही संभव है। निर्वाण-सुख का अन्य कोई उपाय नहीं है। केवल सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता, केवल सम्यग्ज्ञान से भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता और केवल चारित्र से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। तीनों की एकता और चारित्र की पूर्णता जब होती है, तभी मोक्ष की भी समुपलब्धि होती है। ऐसा समझना चाहिये।।24।।

स्याद्वादज्ञान से ही सम्यग्ज्ञान

सियवाद-णाणदो वा, संभवदि धम्म-सम्म-णाणं पुण।
खलु तं सम्मं वादं, संसयवादं ण सियवादं॥25॥

अन्वयार्थ—(**सियवाद-णाणदो वा**) स्याद्वाद ज्ञान से ही (**धम्म-सम्म-णाणं**) धर्म का सच्चा ज्ञान (**संभवदि**) संभव होता है, (**पुण**) इसलिये (**खलु**) निश्चय से (**तं**) वह (**सियवादं**) स्याद्वाद ज्ञान (**सम्मं वादं**) सम्यग्वाद है, (**संसयवादं ण**) संशयवाद नहीं है॥25॥

गाथार्थ—स्याद्वाद-ज्ञान के माध्यम से ही धर्म का समीचीन/सत्यार्थज्ञान संभव है, इसी कारण से वह स्याद्वाद ज्ञान ही सम्यग्वाद है। स्याद्वाद-ज्ञान संशयवाद नहीं है॥25॥

विशेषार्थ—''स्यात्'' शब्द एक अव्ययपद है, इसका अर्थ होता है ''कथंचित्'' ''कदाचित्''। ''स्यात्'' पद के बिना न व्यवहार चलता है, न ही दर्शन और न ही परमार्थ की व्यवस्था बन पाती है। जब स्यात् शब्द में वाद को जोड़ा जाता है, तब ''स्याद्वाद'' शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ होता है ''अपेक्षाकृत भाषण''।

अन्य दर्शनों ने स्याद्वाद को संशयवाद माना है, परन्तु उनका यह विचार दुर्विचार के सिवाय कुछ और नहीं है; क्योंकि वस्तु के अनेक धर्मों का प्रतिपादन स्याद्वाद के बिना अशक्य है। जैसे—श्रेणिक राजा पत्नी की अपेक्षा पति है, पुत्रापेक्षा पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है इत्यादि व्यवहार स्याद्वाद के बिना नहीं किया जा सकता। स्याद्वाद का अभाव करने पर संबंधों का अभाव हो जायेगा और संबंधों का अभाव हो जाने पर व्यभिचार फैल जायेगा। इसलिये स्याद्वाद के सद्भाव से ही व्यवहार की संभावना संभाव है। अतः यह बात सहजसिद्ध है कि स्याद्वादज्ञान सम्यग्वाद है न कि संशयवाद।।25।।

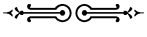

स्याद्वाद को धारण करो

वाद-विवादप्पमादं, मुंचिदूणं पि धार सियवादं।
धम्मफलं आणंदं, तदेव लहेधि तदो सिग्घं॥26॥

अन्वयार्थ—**(तदो)** इसलिये **(वाद-विवादप्पमादं पि)** वाद, विवाद और प्रमाद को भी **(मुंचिदूणं)** छोड़कर **(सियवादं धार)** स्याद्वाद को धारण करो और **(तदेव)** तब ही **(धम्मफलं आणंदं)** धर्म का फल और आनंद **(सिग्घं लहेधि)** शीघ्र प्राप्त करो॥26॥

गाथार्थ—इसलिये स्याद्वादज्ञान को सम्यग्वाद जानकर वाद-विवाद अर्थात् तर्क-वितर्क और प्रमाद अर्थात् उन्मत्तता छोड़कर स्याद्वाद को अंगीकार करो और ऐसा करने के बाद धर्म का समीचीन फल और आनंद शीघ्र प्राप्त करो॥26॥

विशेषार्थ—वाद-विवाद का अर्थ है—विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क, शास्त्रार्ध है। प्रमाद का अर्थ है—अवहेलना, उन्मत्तता, असावधानी, मादकता, गलत निर्णय। स्याद्वादज्ञान संशयवाद नहीं है, सम्यग्वाद ही है ऐसा निश्चय करके जिसे भी धर्म का फल और धर्म का आनंद प्राप्त करना हो वह तर्क-वितर्कादि शास्त्रार्ध और अवहेलना। अविनय का परित्याग करके स्याद्वाद का अवधारण करें।

अतः स्याद्वाद के अवधारण से, धर्म का फल अर्थात् शुद्धावस्था शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है, ऐसा जानना चाहिये॥26॥

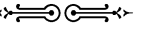

धर्म का स्वभाव और स्वभाव के एकार्थी नाम

धम्मो वत्थुसहावो, सहाव-गुण-धम्म-भाव-एगट्ठा।
विणा इदं सण्णाणं, सम्मं सोक्खं कहं सक्कं॥27॥

अन्वयार्थ—(**वत्थुसहावो धम्मो**) वस्तु का जो स्वभाव है, वह धर्म है और (**सहाव-गुण-धम्म-भाव-एगट्ठा**) स्वभाव, गुण, धर्म, भाव ये सभी एकार्थी हैं (**इदं सण्णाणं विणा**) ऐसे सद्ज्ञान के बिना (**सम्मं सोक्खं कहं सक्कं**) समीचीन सौख्य कहाँ संभव है?॥27॥

गाथार्थ—वस्तु का स्वभाव ही धर्म है और गुण, धर्म, भाव ये सभी स्वभाव के ही पर्यायवाची नाम हैं। इस सद्ज्ञान के बिना सच्चा सुख कहाँ संभव है? अर्थात् ''वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है'' ऐसे सुज्ञान के अभाव में समीचीन सुख का भी अभाव है॥27॥

विशेषार्थ—पदार्थों के भाव, स्वभाव अथवा गुणों को धर्म कहते हैं। धर्म कहीं बाहर से आरोपित नहीं किया जाता, धर्म तो प्रत्येक द्रव्य में स्थित/विद्यमान रहता है। यथा—जीव में चेतना, पुद्गल में मूर्तित्व, आकाश में अवगाहनत्व इत्यादि। जब प्राणी वस्तु के धर्म का चिंतन करता है, तब उसकी दृष्टि निर्विकार रहती है। निर्विकार दृष्टि के कारण आस्रव में अशुभ के स्थान पर शुभत्व देखा जाता है। इसलिये मोक्षमार्गी, मोक्षाभिलाषी और मुमुक्षु जीव को अधर्म छोड़कर वस्तु के धर्म का एकाग्रता वर्धमान करनी चाहिये।

जिस जीव को वस्तु के स्वभाव, धर्म, गुण अथवा प्रकृति का ज्ञान नहीं, उसके सम्यक्त्व का सद्भाव नहीं और जिसके सम्यक्त्व का सद्भाव नहीं, उसके समीचीन सुख अर्थात् निर्वाण सुख का भी सद्भाव नहीं। क्योंकि ''कार्य लिंगं हि कारणं'' कारण के अनुसार ही कार्य देखा जाता है अन्यथा नहीं। कारण के अभाव में कार्य कभी नहीं देखा जाता, अतः सम्यक्त्व के अभाव में सिद्धों के सुखों का सद्भाव कभी नहीं पाया जाता। ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये॥27॥

धर्म का मूल अहिंसा

हिंसाए रक्खाए, सच्चादी अण्ण-धम्म-आचरणं।
पढमं सुधम्म-मूलं, जिणवरदेवेहि णिद्दिट्ठं॥28॥

अन्वयार्थ—**(हिंसाए रक्खाए)** हिंसा से बचने के लिये **(सच्चाई)** सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहादि **(अण्ण-धम्म-आचरणं)** अन्य धर्मों का पालन/आचरण किया जाता है। **(पढमं)** प्रथम धर्म अर्थात् अहिंसा ही **(सुधम्म-मूलं)** समीचीन धर्म की जड़ है; **(जिणवरदेवेहि णिद्दिट्ठं)** ऐसा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट/कहा जाता है॥28॥

गाथार्थ—हिंसा से रक्षित होने के लिये अर्थात् अहिंसा के पालन के लिये सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहादि अन्य धर्मों का, व्रतों का पालन है अर्थात् अहिंसा व्रत के रक्षणार्थ शेष व्रतों का आचरण किया जाता है। प्रथम व्रत अहिंसा है, वही समीचीन धर्म का मूल है; ऐसा जिनवर देवों के द्वारा आगम में निर्दिष्ट/कथन किया गया है॥28॥

विशेषार्थ—अहिंसा व्रत के रक्षणार्थ ही शेष व्रतों की प्रवृत्ति होती है। जहाँ अहिंसा व्रत का अभाव होता है वहाँ शेष व्रतों का भी अभाव देखा जाता है। प्राणियों की पीड़ाकारी वचनों के त्यागरूप और असद् भाषण के त्यागरूप सत्यव्रत; गिरी हुई, भूली हुई वस्तु के और जो पर के द्वारा संग्रहीत है ऐसे परद्रव्य के अग्रहणरूप अचौर्यव्रत; मैथुन के परित्यागरूप त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्यव्रत तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह/संग की विमुक्तिरूप संगविमुक्ति व्रत/परिग्रहत्याग व्रत; ये सभी व्रत अहिंसाव्रत के रक्षा के लिये बाड़ स्वरूप हैं। अर्थात् इन सभी व्रतों का आचरण अहिंसा व्रत के आचरण के लिये ही किया जाता है; इसी कारण से समीचीनधर्म का मूल/जड़ अहिंसा ही है, ऐसा निश्चयकर जानना चाहिये। यह सम्पूर्ण कथन सामान्य जीव का नहीं, जिनेन्द्रदेव का कथन है; ऐसा जानो॥28॥

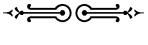

धर्मरूपी वारिधि के रत्न

सच्च-महिंसा करुणा, समदा मित्ती तहा परुवयारो।
धम्मण्णव-रयणाइं, विउलाइं दिव्व-दिव्वाइं॥29॥

अन्वयार्थ—(**सच्चं अहिंसा करुणा**) सत्य, अहिंसा, दया (**तहा**) तथा (**समता मित्ती परुवयारो**) समता, मैत्री, परोपकार; ये सभी (**धम्म-अण्णव**) धर्मरूपी आर्णव अर्थात् समद्र के (**विउलाइं**) विस्तीर्ण (**दिव्व-दिव्वाइं**) सुन्दर-सुन्दर (**रयणाइं**) रत्न हैं॥29॥

गाथार्थ—सत्य, अहिंसा, करुणा/दया, समता, मैत्री और परोपकार; ये सभी सद्धर्म रूपी महासमुद्र के विशाल अलौकिक, उज्ज्वल, मनोहर रत्न हैं॥29॥

विशेषार्थ—रत्नों की उत्पत्ति का स्थान सागर है। महासागरों में ही विशाल, अलौकिक, दिव्यदिव्यतम रत्नों की प्राप्ति संभव होती है। जैसे मूँगा, माणिक्य, मुक्ता, पुखराज, नीलम प्रभृति रत्न महासागर के बहुमूल्य रत्न हैं वैसे ही सत्य, अहिंसा, दया/अनुकम्पा, समता, मैत्री तथा परोपकार प्रभृति रत्न धर्ममहासागर के अद्वितीय मनोहर रत्न हैं।

* **सत्य**—रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और पर को ताप करनेवाले सत्य वचनों के भी कथन का त्याग करना तथा सूत्र और अर्थ के कहने में अयथार्थ वचनों का त्याग करना सत्यमहाव्रत है।

* **अहिंसा**—काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि, इनमें सब जीवों को जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अथवा मन-वचन-काय से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणियों के प्राणों की रक्षा करना अहिंसा व्रत है।

* **करुणा**—सर्व प्राणियों के ऊपर उनका दुःख, असह्य पीड़ा देखकर अन्तःकरण का दया से आर्द्र होना अथवा दीन-प्राणियों पर दयाभाव करना करुणा है।

* **समता**—शत्रु-मित्र, जीवन-मरण, संयोग-वियोग, सुख-दुःख मान-अपमान, इत्यादि परिस्थितियों में राग-द्वेष का अभाव होना, सर्व जीवों पर समानभाव होना समता है।

* **मैत्री**—दूसरों को दुःख न हो ऐसी आकांक्षा/अभिलाषा रखना अथवा समीचीन बुद्धि का सद्भाव होना मैत्री है।

* **परोपकार**—जिससे अन्य जीवों की आत्मा में सम्यग्दर्शनादि की अभिवृद्धि होती है अथवा जिससे पर का अनुग्रह हो वह परोपकार है॥29॥

रक्षकों का रक्षक धर्म

सयलेसुं सत्तेसुं, जो जो णिच्चं करेदि दयभावं।
धम्मो वि तस्स रक्खदि, सव्वेसिं रक्खणं कुणदि॥30॥

अन्वयार्थ—**(जो सव्वेसिं रक्खणं)** जो प्राणी सभी जीवों का रक्षण **(कुव्वदि)** करता है, **(जो)** जो **(सयलेसुं सत्तेसुं)** सभी सत्त्वों/प्राणियों पर **(णिच्चं)** नित्य ही **(दयभावं करेदि)** दया/करुणा भाव करता है; **(धम्मो वि)** धर्म भी **(तस्स रक्खदि)** उसकी रक्षा करता है॥30॥

गाथार्थ—जो करुणावन्त प्राणी नित्य ही सभी जीवों की रक्षा करता है, सभी जीवों पर दया, करुणा या अनुकम्पा का भाव करता है, उनकी रक्षा उनका संरक्षण धर्मरूपी रक्षक करता है॥30॥

विशेषार्थ—रक्षा उसी की होती है जो रक्षा करता है। जो परनिंदा करता है उसकी निंदा अवश्य होती है, जो परवञ्चना करता है उसकी वञ्चना अवश्य होती है; वहीं जो परप्रशंसा करता है जगत् भी उसकी प्रशंसा करता है, जो परोपकार करता है जगत् भी उसका उपकार करता है। इसी प्रकार जो दयासमन्वित प्राणी नित्य ही, सतत ही, अविरल अनुकम्पा भाव से सभी जीवों की रक्षा करता है, उनकी पीड़ा हरण करता है; धर्म भी उस जीव की रक्षा करता है, उसकी पीड़ा का हरण करता है। जो जैसा करता है, उसके साथ भी वैसा ही होता है ये प्रकृति का नियम है। ऐसा जानकर निरन्तर शुभकृत्यों के प्रति अपने चित्त की प्रवृत्ति करना चाहिये॥30॥

धर्म कभी भेदभाव नहीं करता

णवि करदि भेदभावं, कदावि धम्मो कहिं पि जीवम्हि।
रंको राओ समणो, णर-तिरियो सावयो कोवि॥31॥

अन्वयार्थ—(**धम्मो**) धर्म (**कदावि**) कभी भी (**कहिं पि जीवम्हि**) किसी भी जीव पर (**भेदभावं णवि करदि**) भेदभाव नहीं करता है, फिर चाहे वह (**राओ रंको**) राजा, रंक, (**समणो सावयो**) श्रमण, श्रावक, (**णर-तिरियो**) नर, तिर्यंच (**कोवि**) कोई भी क्यों न हो॥31॥

गाथार्थ—सद्धर्म किसी भी काल में किसी भी जीव पर भेदभाव/अंतरभाव नहीं करता है, फिर चाहे वह कोई भी हो—राजा या रंक/भृत्य, श्रमण या श्रावक हो अथवा नर या तिर्यंच हो॥31॥

विशेषार्थ—जिसके अंदर राग-द्वेष की परिणति विद्यमान रहती है, उसके ही अंदर भेदभाव की कुपरिणति का आविर्भाव और सद्भाव रहता है। भेदभाव का अभाव तभी संभव है जब कालुष्य-राग-द्वेष का अभाव होता है। समीचीन धर्म में किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में भेदभाव का सद्भाव नहीं प्राप्त होता। कारण कि—सम्यग्धर्म रागद्वेष रूपी दुष्परिणति से अत्यन्त परे होता है और दुष्परिणति का सद्भाव न होने पर वह राजा और भृत्य में, श्रमण और श्रावक में, नर और तिर्यंच में एकत्व भाव रखता है। जिस धर्म में ऊँच-नीच भाव रहता है वह धर्म समीचीनता को प्राप्त नहीं होता है॥31॥

धर्म धारण करने का फल

जो जो धारदि धम्मं, सो से से पुण्णवड्ढणं कुणदि।
पावकम्मं सो हरदि, दुब्भग्गे रक्खणं कुणदि॥32॥

अन्वयार्थ—**(जो जो धम्मं धारदि)** जो जो प्राणी धर्म धारण करता है, **(सो)** धर्म **(से)** उसका **(पुण्णवड्ढणं कुणदि)** पुण्यवर्धन करता है, **(पावकम्मं हरदि)** पापकर्म को हरता है और **(सो)** वह धर्म **(से)** उसकी **(दुब्भग्गे रक्खणं)** दुर्भाग्य आने पर रक्षा भी **(कुणदि)** करता है॥32॥

गाथार्थ—जो प्राणी धर्म को धारण करता है, धर्म का आचरण करता है; धर्म उसके पापकर्मों को नष्ट करता है, पुण्यकर्मों का वर्धन करता है साथ ही साथ दुर्भाग्योदय में धर्म उसका संरक्षण भी करता है॥32॥

विशेषार्थ—पुण्य को वर्धमान करने का और पाप को हीयमान करने का साधन सिर्फ और सिर्फ धर्म है। धर्म का परिपालन निरतिचार आचरण और श्रद्धानपूर्वक किया जाये तो जीव के ऊर्ध्वगमन को कोई नहीं रोक सकता। धर्म पूर्वोपार्जित ऋणस्वरूप आत्मप्रदेशों में संस्थित दुष्कर्मों को, पापकर्मों को क्षणभर में विनष्ट कर देता है एवं धर्म के ही प्रभाव से पुण्य कर्मों का संवर्धन निरन्तर होता रहता है, जो जीव का संरक्षण और संवर्धन करता है।

जब दुर्भाग्य का समय आता है तब सगे संबंधी, मित्र आदि सभी साथ छोड़ देते हैं पर धर्म ऐसे समय में भी जीव का साथ देता है, रक्षा करता है॥32॥

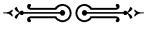

कर्मों का शत्रु और जीवों का मित्र धर्म

धम्मं कम्म-अमित्तं, एवं जीवाण होदि संबंधू।
तम्हा धार सुधम्मं, णूणं हवेहि परमसुद्धो॥33॥

अन्वयार्थ—(**धम्मं**) धर्म (**कम्म-अमित्तं**) कर्मों का शत्रु/अमित्र है (**एवं**) और (**जीवाण संबंधू**) जीवों का मित्र/बंधू है। (**तम्हा**) इसलिये (**सुधम्मं धार**) सम्यग्धर्म को धारण करो और (**णूणं**) निश्चय से (**परमसुद्धो हवेहि**) परमशुद्ध हो जाओ॥33॥

गाथार्थ—धर्म शत्रु भी है और मित्र भी है, वह कर्मों का शत्रु है और भव्य जीवों का मित्र है। इसलिये जिसे भी निश्चय से परमशुद्ध होने की अभिलाषा हो उसे समीचीन धर्म धारण करना चाहिये॥33॥

विशेषार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है। एक ही नहीं अनेक प्रतिपक्षी गुण वस्तु में एक ही समय में युगपत् विद्यमान रहते हैं। इन अनेक धर्मों गुणों की सिद्धि स्याद्वाद से ही संभव है। एक तरफ तो धर्म भव्य जीवों का मित्र है, वहीं दूसरी ओर धर्म सर्वदुःखकारी कर्मों का शत्रु भी है। जीवों को कर्मरूपी शत्रुओं से बचानेवाला होने से धर्म जीवों के लिये सखा है, मित्र है। मित्र सच्चा वही होता है जो आपकी रक्षा करता है, सत्य के मार्ग में आपको स्थापित करता है। धर्म एक ऐसा ही मित्र है। वह सदैव आपकी कर्म से रक्षा करता है; इसलिये धर्म ही जीवों का मित्र है।

कर्म जीवों को नाना योनियों में भटकाता है, दुःखित करता है; इसलिये कर्म जीवों का शत्रु है। लेकिन धर्म कर्मों से जीवों को बचाता है और कर्मों को जीवों से पृथक् भी करता है, इसलिये धर्म कर्मों का शत्रु है। ऐसा जानकर भव्य जीवों को परमशुद्ध होने की इच्छा से समीचीन धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिये॥33॥

कर्म से धर्म और धर्म के कर्म का नाश

कुकम्मादो विणासदि, धम्मो धम्मादो णासदि कम्मं।
तम्हा मुंचिय कम्मं, कुण धम्मं तेण सिवसोक्खं॥34॥

अन्वयार्थ—(**कुकम्मादो**) कुकर्मों से (**धम्मो विणासदि**) धर्म विनष्ट होता है, (**धम्मादो**) धर्म से (**कम्मं णासदि**) कर्म विनष्ट होता है। (**तम्हा**) इसलिये (**कम्मं मुंचिय**) कर्म को छोड़कर (**धम्मं कुण**) धर्म करो (**तेण सिवसोक्खं**) उससे शिवसुख होगा॥34॥

गाथार्थ—दुष्कर्मों से धर्म का विनाश होता है और धर्म करने से कर्मों का नाश होता है। ऐसा जानकर जिसे शिवसुख/मोक्ष पाना हो उसे कर्मों को छोड़कर धर्म करना चाहिये॥34॥

विशेषार्थ—मानव को अपने कृत्यों पर सदैव ध्यान केन्द्रित करके रखना चाहिये। जाग्रत अवस्था में रहनेवाले प्राणी कर्मों के जाल से बच सकते हैं। धर्म सर्वप्राणियों का रक्षक है और दुष्कर्म सर्वप्राणियों का भक्षक है। धर्म में चित्त ले जाने वाले लोग कर्मों से बच जाते हैं। इसलिये सर्वप्रयत्नपूर्वक मनुष्य को अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिये। दुष्कृत्य करते वक्त प्राणी हर्षित होता है, मगर उसके फल को भूल जाता है। दुष्कर्म अथवा कुकृत्य आपके धर्म का विनाश कर देते हैं अर्थात् दुष्कर्म धर्म के विनाश का कारण बन जाते हैं तथा धर्म करने से दुष्ट कर्मों का नाश हो जाता है। जीव जो चाहे वो करता है। जीव चाहे तो दुष्कर्म से धर्म का विनाश कर ले और चाहे तो सद्धर्म से कर्मों का नाश कर दे। भव्यजीव कर्मों की संगत छोड़ धर्म के पाले में जीवन व्यतीत करता है॥34॥

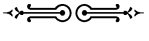

धर्म दिखता नहीं पर होता है

चक्खूहिं णवि दिस्सदि, संपा इव होइ तस्स रूवो य।
अट्ठा-चक्खूहिं णं, दिस्सदि धम्मो परमदिव्वो॥35॥

अन्वयार्थ—**(परमदिव्वो धम्मो)** अत्यन्त मनोहर धर्म **(संपा इव होदि)** वायु के सदृश होता है **(य तस्स रूवो)** और उसका स्वरूप **(चक्खूहिं णवि दिस्सदि)** चरमचक्षुओं से नहीं दिखाई देता है **(णं)** उसको अर्थात् धर्म को **(अट्ठा-चक्खूहिं दिस्सदि)** आस्था/श्रद्धान के चक्षुओं के द्वारा देखा जाता है॥35॥

गाथार्थ—अत्यन्त श्रेष्ठ और मनोहर सद्धर्म वायु के सादृश्य होता है, उसका स्वरूप चरमचक्षुओं से कभी भी दिखाई नहीं पड़ता। धर्म को तो श्रद्धान रूपी चक्षुओं के माध्यम से ही देखा जा सकता है॥35॥

विशेषार्थ—सर्वोपरि कहा जानेवाला सद्धर्म तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध है, विख्यात है, अत्यन्त मनोहर है, परमोपकारी है, सर्वश्रेष्ठ बंधु है, संसारसागर से तिरानेवाला कर्णधार है; परन्तु वह आकाश और वायु के सदृश होता है इसके स्वरूप का परिज्ञान सामान्य चरमचक्षुओं की सहायता से त्रैकाल्य में भी संभव नहीं हैं। कारण कि—चरमचक्षु बहिरंग और अत्यन्त स्थूल पदार्थों को ही अपना विषय बना पाते हैं, सूक्ष्म तथा अभ्यंतरगत पदार्थ इनका विषय नहीं बन पाते हैं। सूक्ष्म तथा अभ्यंतरगत पदार्थों का परिज्ञान आगम और श्रद्धा के चक्षुओं की सहायता से ही संभव है। इसी कारण से धर्म को देखने का उपाय चरमचक्षु नहीं है, श्रद्धान के चक्षुओं से ही धर्म के मर्म और स्वरूप का सद्ज्ञान हो पाता है।

श्रद्धान एक ऐसी वस्तु है जो आत्मा में आनन्द और आह्लाद उत्पन्न करती है। श्रद्धान के अभाव में विशुद्धि, निर्जरा, संसिद्धि प्रभृति गुणों का भी अभाव देखा जाता है, इसलिये अनेकों वस्तुओं में श्रद्धान श्रेष्ठतम अर्घवान् वस्तु है॥35॥

तिर्यंचों की पूजा और बलि धर्म नहीं

कदावि तिरिया पूया, कदावि तेसिं पुणो बलिं करणं।
णवि होदि अयं धम्मो, णूण-मिणं घोर-मण्णाणं॥36॥

अन्वयार्थ—(**कदावि**) कभी (**तिरिया पूजा**) तिर्यंच को पूजना (**पुणो**) फिर (**कदावि**) कभी (**तेसिं**) उन्हीं तिर्यंचों की (**बलिं करणं**) बली करना (**अयं धम्मो**) यह धर्म (**णवि होदि**) नहीं होता है। (**णूणं**) निश्चय से (**इणं घोरं अण्णाणं**) यह घोर अज्ञानता ही है॥36॥

गाथार्थ—कभी तिर्यंचों की पूजन करना और फिर कभी उन्हीं तिर्यंचों की बली करना, हिंसा करना; यह त्रैकाल्य में धर्म नहीं हो सकता है। निश्चय से यह घोर अज्ञानभाव है॥36॥

विशषार्थ—धर्म में अज्ञानता को स्थान नहीं है और अज्ञानता में धर्म को स्थान नहीं है। संसारी-सुखाभिलाषी जीव देहिक-सुख के लिये हिंसादि कर्म भी करने से चूकते नहीं हैं। मौका पड़ने पर जानवरों पशु-पक्षियों की पूजा करने लगते हैं ओर लोभवशात् उनकी बली भी देने लग जाते हैं। ऐसे कार्य करना धर्म नहीं अज्ञानता है। तिर्यंचों में परमात्मभाव उसी पर्याय में प्रकट नहीं हो सकता, फिर भी अज्ञानी प्राणी कभी तो उन जानवरों को परमात्मा की रचना मानकर उनकी पूजन-सेवा आदि धर्म मानकर करता है और कभी तो कुछ पाखंडियों के चंगुल में फँसकर उन्हीं मूक पशुओं की बली चढ़ा देता है। यहाँ तक भी ठीक था, हिंसा करके स्वयं दुर्गतियों में भटकता, मगर भोले प्राणियों को ''यह धर्म है'', ऐसी प्रेरणा भी देता है। यह कोई धर्म नहीं, सिर्फ अज्ञानता है संसारवृद्धि का साधन है। भव्य जीवों को ऐसी पापयुक्त मिथ्यात्व क्रिया से स्वात्मा की रक्षा करनी चाहिये॥36॥

धर्म ही सम्यक्प्राण

पाणीणं संपाणं, णिच्छयदो होदि धम्म-मण्णं णो।
धम्मेण विणा पुरिसो, पुरिसो णत्थि सो पसू एव॥37॥

अन्वयार्थ—(**णिच्छयदो**) निश्चय से (**पाणीणं संपाणं**) प्राणियों का सम्यक्प्राण (**धम्मं होदि**) धर्म ही होता है (**अण्णं णो**) अन्य नहीं। (**धम्मेण विणा पुरिसो**) धर्म के बिना पुरुष (**पुरिसो णत्थि**) पुरुष नहीं है (**पसू एव**) पशू ही है॥37॥

गाथार्थ—धर्म ही प्राणियों का समीचीन प्राण है, अन्य नहीं; ऐसा निश्चय से जानना चाहिये। धर्म के बिना पुरुष पुरुष नहीं है, धर्मविहीन पुरुष पशु/तिर्यंच ही है॥37॥

विशेषार्थ—हर जंतु जन्म लेते ही प्राण युक्त हो जाता है, मगर जन्म से प्राप्त प्राण उसी पर्याय में उसके काम आते हैं। जन्म प्राप्त करने के बाद धर्म में रुचि जगानेवाला जंतु धर्मरूपी प्राणों के आश्रय से जीता है। व्यवहार से देखा जाये तो हर प्राणी जो जीवित है वह इन्द्रियादि प्राणों के माध्यम से जीवित रहता है, मगर निश्चय से देखा जाये तो असली प्राण तो धर्म ही है, अन्य नहीं। कारण कि—धर्म ही जीव को सद्गति तथा अन्य गुणों को देनेवाला है। सामान्य प्राणों को प्राप्त करके जीव पशु की तरह आहार, निद्रा, भय अथवा मैथुन आदि क्रियाओं में लग जाता हैं धर्म रूपी विशेष प्राणों से जीनेवाला जीव पशुता से दूर हो जाता है। अतः धर्म से युक्त पुरुष ही पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता है, शेष धर्म विहीन पुरुषत्व नहीं पशुत्व की ओर जाते हैं॥37॥

शिवपथगमन में धर्म सहायक

जड-चेयणाण गमणे, धम्मं दव्वं सहायगं होदि।
सिवपह-गमणे जीवं, सहायगो होदि जिणधम्मो॥38॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(जड-चेयणाण)** जड़ और चेतन के **(गमणे)** गमन में **(धम्मं दव्वं)** धर्म द्रव्य **(सहावगं होदि)** सहायक होता है, उसी प्रकार **(जीवं सिवपहगमणे)** जीव को शिवपथ अर्थात् मोक्ष के लिये गमन में **(जिणधम्मो सहायगो होदि)** जिनधर्म सहायक होता है॥38॥

गाथार्थ—जड़ अर्थात् पुद्गल और चेतन अर्थात् जीव, इन दो द्रव्यों के गमन/क्रिया में धर्मद्रव्य ही सहायक/उपकारक होता है, ठीक इसी प्रकार भव्यजीव को निर्वाणपथ में गमनार्थ जिनधर्म ही सहायक होता है, अन्य मिथ्याधर्म नहीं॥38॥

विशेषाथ—कारण के बिना कार्य की सिद्धि असंभव ही है। कई बार हम निमित्तों का अभाव कर लेते हैं और ऐसा करने के कारण हम अपने लक्ष्य को नहीं भेद पाते हैं। जिन भी भव्यात्माओं को मोक्ष-पथ और मोक्ष-सुख की अभिरुचि है, उन्हें धर्म रूपी सहायक की सहायता लेना चाहिये। जैसे गमनागमन में धर्माधर्म द्रव्य तुम्हारा सहायक है, संसार की बहिरंग चीज़ों को देखने में तुम्हारी आँखें तुम्हारे लिये सहायक हैं, वैसे ही शिवपथ और शिवगति की प्राप्ति के लिये जिनधर्म ही सहायक है। जिस जीव ने जिनधर्म का सहारा लिया है, उसने निश्चित ही मोक्ष का ठिकाना पा लिया है। अतः मोक्षाभिलाषियों को मिथ्याधर्म का त्याग करके जिनधर्म की ही शरण लेना चाहिये॥38॥

धर्म कैसे और धर्म से क्या

पुण्णुज्जमेहिं धम्मो, धम्मादो होदि सिवगदि-सोक्खं।
पण्णाए संवित्तं, जीवं पत्तेदि संसारे॥39॥

अन्वयार्थ—(**संसारे**) इस संसार में (**जीवं**) जीव को (**पण्णाए संवित्तं पत्तेदि**) प्रज्ञा के द्वारा धन/संपत्ति प्राप्त होती है, (**पुण्ण-उज्जमेहिं धम्मो**) पुण्य और पुरुषार्थ से धर्म और (**धम्मादो**) धर्म के द्वारा (**सिवगदि-सोक्खं होदि**) शिवगति का सौख्य प्राप्त होता है॥39॥

गाथार्थ—इस संसार में प्रज्ञा और बुद्धि के माध्यम से जीव धन/वित्त को प्राप्त करता है, पूर्वपुण्य ओर वर्तमान के घोर-पुरुषार्थ के द्वारा सद्धर्म को प्राप्त करता है एवं धर्म के प्रभाव से भव्यजीव शिवगति के सौख्य अर्थात् मोक्ष के परमसुख को प्राप्त करता है॥39॥

विशेषार्थ—धन, धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिये तत्संबंधी साधन होना आवश्यक है। साध्य की प्राप्ति योग्य साधनों से ही संभव है, इस सिद्धान्त को हमेशा याद रखना चाहिये। जिसके पास बुद्धि अथवा प्रज्ञा होती है उसके लिये सम्पत्ति, धन, वैभव, ऐश्वर्य की प्राप्ति सुलभता से हो जाती है। जिसके पास पूर्व का पुण्य और वर्तमान का घोर-पुरुषार्थ होता है, उसी जीव को सच्चे धर्म की प्राप्ति होती है। सच्चा धर्म जिसको प्राप्त हो जाता है, उसी मनुष्य को मोक्षसुख की प्राप्ति हो पाती है। इसलिये जिसे भी मोक्ष जाने की इच्छा हो, उसे सत्यार्थधर्म की शरण और श्रद्धा अवश्य प्राप्त करना चाहिये॥39॥

आत्मा बीज, धर्म भूमि और निर्वाण फल

चेयण्ण-रूव-बीयं, अप्पं जदि धम्म-भूमीए ववदि।
महुरं णिव्वाण-फलं, सहसा भवियाण पावेदि॥40॥

अन्वयार्थ—(**चेयण्ण-रूव बीयं**) चैतन्य रूपी बीज (**अप्पं**) आत्मा को (**जदि**) यदि (**धम्म-भूमीए**) धर्मरूपी भूमि में (**ववदि**) बोया जाता है, तो निश्चित ही (**भवियाण**) भव्यात्माओं के लिये (**महुरं णिव्वाण-फलं**) मधुर निर्वाण/मोक्ष फल (**सहसा पावेदि**) शीघ्र ही प्राप्त होता है॥40॥

गाथार्थ—यदि चैतन्य बीज को अर्थात् आत्मा को धर्मरूपी उत्तम, उपजाऊ, गुणवान् भूमि पर बोया जाता है, तो निश्चित ही/निस्संदेह भव्यात्मा रूपी कृषक के लिये मधुर अर्थात् अनंतसौख्यरूपी फल, निर्वाण फल प्राप्त होता है॥40॥

विशेषार्थ—बीज जैसा होता है फल भी वैसा ही प्राप्त होता है। विशेष बात यह है कि बीज का वपन अर्थात् रोपन जहाँ किया गया है उसके अनुसार ही बीज फलीभूत हो पाता है। बंजर भूमि में उत्कृष्ट बीज भी क्यों न बोया जाये, मगर वृक्ष और फल की उपलब्धि वहाँ नहीं हो पायेगी और बीज व्यर्थ हो जायेगा। व्यवहार से उठकर मोक्षमार्ग की बात की जाये तो आत्मा ही सुंदर, योग्य और उत्कृष्ट बीज की तरह है जो निर्वाण रूपी फल में परिवर्तित होगी बस इसे सच्चे धर्म की उपजाऊ भूमि में डालना अथवा लगाना पड़ेगा। जैसे बोरी में रखा बीज कभी वृक्ष नहीं बन पाता है, उसे तो मिट्टी में डालना ही पड़ता है; ठीक वैसे ही आत्मा सांसारिक कार्यों में लीन रहकर परमात्मा नहीं बन सकती है, उसे तो धार्मिक क्रियाओं में तथा आत्मधर्म में लीन करना चाहिये तब कहीं जा करके अशुद्धात्मा शुद्धात्मा बन पाती है। अतः हे भव्यात्मन् ! उस आत्मारूपी उत्तम बीज का धर्मरूपी उत्तम भूमि में रोपण करो, ताकि मोक्षरूपी उत्कृष्ट फल आपको प्राप्त हो सके॥40॥

कुतर्क से कुगति

सम्मं धम्मे जीवो, जिणवर-वसहेण कहिद-सुह-वयणे।
जदि कुव्वेदि कुतक्कं, णूणं से दुग्गदी होदि॥41॥

अन्वयार्थ—(**जदि**) यदि (**जीवो**) कोई जीव (**सम्मं धम्मे**) सम्यग्धर्म में और (**जिणवर-वसहेण**) जिनवरों में प्रधान कहे गये तीर्थंकरादि के द्वारा (**कहिद-सुह-वयणे**) कथित शुभ-वचनों में (**कुतक्कं कुव्वेदि**) कुतर्क करता है (**से दुग्गदी**) उसकी दुर्गति (**णूणं**) निश्चित (**होदि**) होती है॥41॥

गाथार्थ—यदि कोई अज्ञानी/मूढ़ जीव समीचीन धर्म में एवं जिनवर/गणधरादि में प्रमुख कहे जानेवाले तीर्थंकरों के द्वारा कहे गये शुभ/मंगलोत्तम वचनों में कुतर्क करता है, उनका विरोध करता है, उस जीव की दुर्गति, कुमरण, भवभ्रमण निश्चित होता है॥41॥

विशेषार्थ—अपनी-अपनी बुद्धि और प्रज्ञा का हम सभी को सही उपयोग करना चाहिये। अन्यथा गलत दिशा में इनका प्रयोग स्व-पर दोनों के लिये हानिकारक हो जाता है। कई लोगों की बुद्धि सिर्फ कुतर्क करने में ही लगी रहती है, विशेष करके धर्म की चर्चा में, धार्मिक तथ्यों में। ऐसे प्राणी कुतर्क रूपी दुष्क्रिया के कारण दुर्गति के पात्र बन जाते हैं। अज्ञान-अंधकार वश जीव मिथ्यात्व की पुष्टि का चिंतन-मनन करता रहता है। ऐसे भी अज्ञानी जीव संसार में हैं जो अपने ज्ञान का प्रयोग स्वयं को ज्ञान रहित सिद्ध करने में कर रहे हैं। यदि कोई मूढ़ प्राणी सत्यार्थ-धर्म में, पूज्यवर तीर्थंकरों के कहे हुये वचनों में अश्रद्धापूर्वक कुतर्क करता है तो वह उभय लोकों में दुःख और दरिद्रता पाता है; इसलिये सद्गति के इच्छुक प्राणियों को समीचीन वस्तु तत्त्व में कुतर्क करना श्रेयस्कर नहीं है॥41॥

सभी उत्तम संयोग धर्म के लिये

वर-भाव-चित्त-बंधू, उत्तमकुल-देह-जादि-संपत्ती।
बल-वीरियं च आऊ, धम्मत्थं होंति णियमेण॥42॥

अन्वयार्थ—(**वर-भाव-चित्त-बंधू**) श्रेष्ठ परिणाम, श्रेष्ठ मन, श्रेष्ठ संबंधी, (**उत्तमकुल-देह-जादि-संपत्ती**) श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ शरीर, श्रेष्ठ जाति, श्रेष्ठ संपत्ति, (**बल-वीरियं**) बल, वीर्य (**च**) और (**आऊ**) आयु; ये सभी (**णियमेण**) नियम से (**धम्मत्थं**) धर्म के लिये (**होंति**) ही प्राप्त होते हैं॥42॥

गाथार्थ—उत्तम परिणाम, उत्तम मन, उत्तम जन-परिजन, उत्तम कुल, उत्तम-देह, उत्तम जाति, उत्तम धन-संपत्ति, बल, वीर्य तथा आयु; इन सबकी लब्धि नियम से धर्म के लिये अर्थात् धर्मपुरुषार्थ के लिये ही होती है॥42॥

विशेषार्थ—इस लोक में जीवों को जितने भी शुभ और उत्तम संयोग प्राप्त होते हैं उनका उपयोग धर्म पुरुषार्थ के लिये ही करना चाहिये। वास्तविकता में जैसे उत्तम बीज उत्तम भूमि पर बोने योग्य है, वैसे ही उत्तम भाव, उत्तम भूमि पर बोने योग्य है, वैसे ही उत्तम भाव, उत्तम मन, उत्तम देह इत्यादि धर्म की भूमि में ही बोने योग्य है। उत्तम निमित्तों और उत्तम उपादान का प्रयोग उत्तम स्थानों पर करना यही उत्तम धर्म पुरुषार्थ है। उत्तम चीज़ों का उपयोग अनुत्तम कार्यों में करने से उत्तम चीज़ें आपका साथ छोड़ते दिखती हैं। राग-द्वेष से रहित भाव तथा सच्चे श्रद्धान से युक्त भाव ही उत्तम भाव कहलाते हैं। शुभ क्रियाओं में मन का गमन करना उत्तम मन कहलाता है। धर्म के प्रति और धर्मात्माओं के प्रति प्रीति के परिणामवाले लोग उत्तम जन-परिजन कहलाते हैं। देव शास्त्र गुरुओं के प्रति समर्पित कुल और जाति ही

उत्तम कुल-जाति कहलाती है। तपस्या में उपयुक्त होने वाली देह, बल, वीर्य और आयु ही उत्तम संज्ञा को प्राप्त होते हैं। इस दुःख के काल में भी विरले पुण्यात्माओं को ये सारे उत्तम निमित्त मिलते हैं, मगर इन निमित्तों की प्राप्ति भोगों के लिये नहीं धर्म पुरुषार्थ के लिये ही होती है। अतः हे भव्यजीवो! यदि तुम्हें उत्तम-भाव, उत्तम-देह, उत्तम धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त हो चुकी है, तो इसका सदुपयोग धर्म पुरुषार्थ में ही करो॥42॥

धर्म का पालन सावधानी से

सव्वुक्किट्ठं धम्मं, णिच्चं संपालणं च करणीयं।
सिवगदी सावधाणा, दुग्गदी असावधाणादो॥43॥

अन्वयार्थ—**(सव्वुक्किट्ठं धम्मं)** सर्वोत्कृष्ट धर्म का **(संपालणं करणीयं णिच्चं)** हमेशा अच्छे से ही पालन करना चाहिये। क्योंकि **(सावधाणा सिवगदी)** सावधानता से शिवगति **(च)** और **(असावधाणादो दुग्गदी)** असावधानता से दुर्गति होती है॥43॥

गाथार्थ—समझदार लोगों को सर्वोत्कृष्ट जिन धर्म का परिपालन अच्छे से सचेतावस्था में ही करणीय है। कारण कि धर्माचरण सावधानी से किया जाये तो ही शिवगति होती है, असावधानी पूर्वक तो दुर्गति निश्चित ही है॥43॥

विशेषार्थ—चाहे धार्मिक क्रिया हो या व्यावहारिक सावधानी तो सभी जगह आवश्यक है। प्रतिदिन की भोग-उपभोग की क्रियायें हों, व्यापारिक काम हों, पारिवारिक लेन-देन, उठना-बैठना हो अथवा धर्माचरण का परिपालन हो; सभी स्थानों और क्रियाओं में सचेतता अनिवार्य अंग है। सचेत और सावधान पुरुष बड़े-बड़े संकटों से अपनी रक्षा करने में सक्षम रहता है। वहीं दूसरी ओर असावधानी मानव को दुःख, पीड़ा, कष्टों की ओर ही ले जाती है, भले ही समीचीन काम ही क्यों न किया जाये। जैसे रोटी तबे पर ही सिकती है और तबे पर ही जलती है; ठीक वैसे ही विवेकपूर्वक और सावधानी से किये गये सारे काम सुखप्रद होते हैं तथा अविवेक अथवा असावधानी हानिप्रद ही होती है। प्रतिबुद्ध पुरुष व्यावहारिक के साथ धार्मिक कामों को भी अच्छे से ही संपादित करते हैं। विश्वप्रसिद्ध सनातन जैन धर्म का आचरण सावधानी पूर्वक किया जाये तो ही मोक्ष का साधन बनता है अन्यथा चतुर्गति-भ्रमण की कहानी असावधानी की निशानी ही सिद्ध होगी॥43॥

धर्म ही सारवान्

संसार-काणणे किल, किंपि दव्वं ण होदि सारवंतं।
धम्मो हि सारवंतो, तम्हा धारेहि धम्मं ति॥44॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**संसार-काणणे**) संसाररूपी कानन/वन में (**किंपि दव्वं**) कोई भी द्रव्य (**सारवंतं ण होदि**) सारवान् नहीं होता है, केवल (**धम्मो हि सारवंतो**) धर्म ही सारवान् है, (**तम्हा**) इसलिये (**धम्मं ति धारेहि**) धर्म को धारण करो॥44॥

गाथार्थ—इस दुःखमय संसाररूपी विकट-वन में भले प्रकार से देखने पर भी कोई भी द्रव्य या पदार्थ सारवान् नहीं दिखाई देता है, एकमात्र धर्म ही सारवान् है, इसलिये धर्म को ही धारण करो; ऐसा निश्चय से जानो॥44॥

विशेषार्थ—सारवान् अथवा सर्वश्रेष्ठ वस्तु की खोज हर कोई करता, किन्तु विरले पुण्यात्मा ही सारभूत तत्त्व को तत्त्वनिर्णय को प्राप्त कर पाते हैं। इस पंचमकाल में दिखाई देनेवाली श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु सत्यार्थदृष्टि से श्रेष्ठ या सारभूत नहीं है। जैसे किसी घने वन में भटका मानव जीवन के निर्वाहन के लिये सारवान् चीज़ों की खोज करता है, वैसे जी संसाररूपी घने वन में भटके भव्यात्मन् भी सारवान् चीज़ों की खोज करता है, मगर उसे धर्म ही सारवान् दिखाई देता है शेष भोगोपभोग-सामग्रियाँ निस्सार दिखाई पड़ती हैं। इसलिये वह एकमात्र धर्म को ही अंगीकार करता है धारण करता है। अतः संसार की रागवर्धक चीज़ों से खुद को मोड़कर, संसारनाशक धर्म की शरण में रहना चाहिये॥44॥

धर्म से अनंतसुख

कप्पेहि लहदि जीवो, करणसुहाइं च सग्गसोक्खाइं।
मंदकसाएण लहदि, धम्मेणं णंतसोक्खाइं॥45॥

अन्वयार्थ—(**जीवो**) जीव (**कप्पेहि**) कल्पवृक्षों से (**करण-सुहाइं लहदि**) इन्द्रियसुखों को प्राप्त करता है, (**मंदकसाएण सग्गसो-क्खाइं**) मंद-कषाय से स्वर्ग के सुखों को (**लहदि**) प्राप्त करता है एवं (**जीवो धम्मेणं**) जीव धर्म के द्वारा (**णंतसोक्खाइं**) अनंतसुखों को प्राप्त करता है।।45।।

गाथार्थ—जीवों को कल्पतरुवरों के माध्यम से इन्द्रिसुखों की लब्धि होती है, मंदकषाय के माध्यम से अभ्युदय/स्वर्ग सुखों की लब्धि होती है एवं धर्म के प्रभाव से अनंतसुखों की लब्धि होती है।।45।।

विशेषार्थ—बड़ी चीज़ों की प्राप्ति के लिये बड़े आश्रय और बड़े परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है। यह मनुष्य सामान्य इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति कल्पवृक्षों के माध्यम से कर सकता है अथवा स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति मात्र मंदकषाय के माध्यम से कर सकता है, किन्तु अनंत सुखों की प्राप्ति के लिये इसे धर्म की शरण में ही आना पड़ेगा। चाहे कोई कितना भी प्रयास कर ले, मगर अनंत सुख तो धर्म की शरण, धर्माचरण से ही प्राप्त हो पाता है। सामान्यरूप से भी देखा जाता है कि रत्नों की उत्पत्ति सागर में ही होती है, स्वर्ण आदि बहुमूल्य धातुओं की उपलब्धि भूमि विशेष पर ही होती है, ठीक इसी प्रकार अनंत सुखरूपी रत्नप्राप्ति भी धर्मरूपी भूमि पर ही होती है। अतः यह निश्चय कर लेना चाहिये कि—धर्म के प्रभाव से ही अनंतसुख की प्राप्ति हो सकती है॥**45**॥

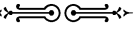

धर्मात्मा जीने के लिये खाता है

जस्स समीवे धम्मो, सो जीवो जीविदुं हि भुंजेदि।
णो जं समया धम्मो, सो जीवो भुंजिदुं जीवदि॥46॥

अन्वयार्थ—(**जस्स समीवे**) जिसके पास (**धम्मो**) धर्म होता है (**सो जीवो**) वह जीव (**जीविदुं हि**) जीवन के अर्थात् जीने के लिये ही (**भुंजेदि**) भोजन करता है; वहीं (**जं समया**) जिसके पास (**णो धम्मो**) धर्म नहीं होता (**सो जीवो**) वह जीव (**भुंजिदुं**) भोजन करने के लिये (**जीवदि**) जीता है॥46॥

गाथार्थ—जिस जीव के पास धर्म विद्यमान रहता है वह जीव जीवन-यापन के लिये अर्थात् जीने के लिये ही भोजन आदि की प्रवृत्ति करता है, किन्तु जिस जीव के पास धर्म का अभाव है; ऐसे जीव भोजन आदि की प्रवृत्ति के लिये ही जीवन जीते हैं॥46॥

विशेषार्थ—धर्म के निमित्त से की गई सारी प्रवृत्तियाँ शुभबंध और मंगल का कारण बनती हैं। धर्मात्मा जीवों की प्रवृत्तियाँ पापी जीवों से अत्यन्त भिन्न होती हैं और विशेष बात यह है कि—धर्मात्मा जीवों की प्रवृत्तियों का उद्देश्य भी भिन्न ही होता है। संसार में रहनेवाले जीव सिर्फ और सिर्फ इन्द्रियों सुखाभिलाषा रखते हैं, वहीं संसारातीत होने की अभिलाषा रखनेवाले इन्द्रिय दमन की क्रिया करते हैं। सामान्य जीव धर्म-विहीन आचरण करते हैं और पूरा जीवन खाने के लिये ही जीते हैं, मगर विशेष जीव अथवा जिनके अंदर धर्म विद्यमान रहता है, ऐसे जीव जीवन-यापन के लिये धर्माचरण की रक्षा के लिये भोजनादि की प्रवृत्ति करते हैं। कुल मिलाकर पापी लोग खाने के लिये जीते हैं और धर्मात्मा पुण्यात्मा लोग जीने के लिये खाते हैं॥46॥

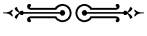

मोक्ष का मूल धर्म

संसिद्धि-मूल-धम्मो, संमोहो होदि दुक्खमूलं च।
तम्हा विसरहि सव्वं, कदावि धम्मं ण विसरेहि॥47॥

अन्वयार्थ—(**संमोहो दुक्खमूलं**) मोह अथवा अत्यन्त गाढ़ प्रीति दुःखों का मूल कारण (**होदि**) है (**च**) और (**संसिद्धि-मूल-धम्मो**) निर्वाण/मोक्ष का मूल कारण धर्म है, (**तम्हा**) इसलिये (**सव्वं**) मोह, राग, द्वेष, प्रीति आदि सभी को (**विसरहि**) भूल जाओ; मगर (**कदावि**) कभी भी (**धम्मं ण विसरेहि**) धर्म को नहीं भूलो॥47॥

गाथार्थ—निर्वाण सुख का मूल कारण सत्यार्थ-धर्म है और दुःखों का मूल कारण मोह, अत्यंत गाढ़ अनुराग है, ऐसा जानकर हे भव्यात्मन्! तुम मोह, राग, द्वेष, प्रीति आदि सभी को भूल जाओ, मगर कभी भी सच्चे धर्म को मत भूल जाना॥47॥

विशेषार्थ—कारण के बिना कार्य की सिद्धि असंभव है और कारण विपरीत होने पर भी कार्य की उपलब्धि अनिश्चित है। अनादि से जीवात्मा का शत्रु मोह है। यह मोह जीवों को अंधा करके संसार में घुमाता रहता है। इसलिये संसारी जीवों के सर्वविध दुःखों का मूल कारण उनका मोह है। मोह अर्थात् मिथ्यात्व जीव के दुःखों का परम साधन है। मोह की दो मुख्य संतान हैं राग और द्वेष और इन्हीं राग-द्वेष की रस्सियों में बिधकर मानव दानववत् प्रवृत्तियाँ करते पाये जाता है।

इसके विपरीत मोक्ष सुख का मूल सत्यार्थ-धर्म की शरण ही है। सत्यार्थ-धर्म पर श्रद्धान होना पहला कदम है और सत्यार्थ-धर्म का आचरण दूसरा कदम है एवं सत्यार्थ-धर्म में लीनता मोक्ष का साक्षात् साधन है। ऐसा जानकर जीवों को राग-द्वेष, मोह, गाढ़-प्रीति भूल जाना चाहिये, मगर धर्म की शरण कभी नहीं भूलना चाहिये॥47॥

धर्म एक औषध

रागाणं रोगाणं, वेरग्गमय-धम्म-ओसहं जाण।
से रिदे सेवणादो, कम्मरोग-समणं णवि होदि॥48॥

अन्वयार्थ—**(रागाणं रोगाणं)** सम्पूर्ण रागों की, सम्पूर्ण रोगों की **(वेरग्गमय-धम्म-ओसहं)** वैराग्यमय धर्म ही औषध है; **(जाण)** ऐसा जानो। **(से)** इसके **(सेवणादो रिदे)** सेवन के बिना **(कम्मरोगसमणं)** कर्मरूपी रोगों का शमन **(णवि होदि)** नहीं होता है॥48॥

गाथार्थ—सकलविध राग-परिणामों की अथवा सकलविध रोगों की एक ही श्रेष्ठ औषध है और वह है वैराग्यमय जिनधर्म; ऐसा हे जीव! तू जान। धर्मौषध के सेवन अर्थात् पालन के अभाव में कर्मरूपी दारुण रोगों के शमन का भी अभाव हो जाता है॥48॥

विशेषार्थ—एक उत्तम वैद्य सर्वश्रेष्ठ औषधियों के माध्यम से रोगियों के रोग को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है, ठीक वैसे ही उत्तम धर्म ही सर्वश्रेष्ठ औषध है जो कर्मरूपी सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने में परम सहायक सिद्ध होता है। पूर्व के ऋषियों मुनियों ने अपने सिद्ध हस्त और जीवन के गंभीर अनुभवों से एक बात की प्रामाणिकता सिद्ध की है कि—वैराग्यमय जिनधर्म ही सर्वोत्तम औषध है। चाहे राग हो या फिर किसी भी प्रकार का रोग सभी की एक ही औषधि है वैराग्यमय अहिंसाधर्म। ऐसा जानकर भव्य जीवों को वैराग्यमय जिनधर्म की ही शरण लेना चाहिये, अन्य की नहीं; क्योंकि समीचीन धर्म का सेवन ही कर्मरूपी रोगों के शमन का साधन है, ऐसा निश्चय कर जानो॥49॥

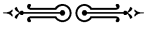

वांछा रहित धर्म ही उपादेय

फलवंछं णवि कुज्जा, धम्मं पुण णिच्चमेव कुव्वेज्जा।
वंछाए भवकम्मं, सिवगदि-सोक्खं विणा वंछं॥49॥

अन्वयार्थ—(**धम्मं**) धर्म (**णिच्चं एव**) नित्य ही (**कुव्वेज्जा**) करना चाहिये (**पुण**) परन्तु (**फलवंछं**) फल की अभिलाषा (**णवि कुज्जा**) नहीं करनी चाहिये, क्योंकि (**वंछाए**) अभिलाषा से (**भव-कम्मं**) भवरूपी कर्म प्राप्त होता है और (**वंछं विणा**) अभिलाषा के बिना (**सिवगदि-सोक्खं**) शिवगति का परम सुख प्राप्त होता है॥49॥

गाथार्थ—धर्म नित्य ही, निरन्तर ही करना चाहिये, परन्तु कुचित् कदाचित् भी उस धर्म को करते समय फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। कारण कि—फल की आकांक्षा से भव अर्थात् संसार और कर्म की ही उपलब्धि होती है और अनभिलाषित भाव से किया गया धर्म शिवगति/मोक्ष के परमानन्द दायक सुख को उपलब्ध करता है॥49॥

विशेषार्थ—इच्छा, आकांक्षा, वांछा, चाह, अभिलाषा, कांक्षा सब एकार्थवाची आकांक्षायें-अपेक्षायें सर्वदा दुःख का ही साधन हैं। जिस-जिस जीव ने जब-जब भी आकांक्षायें की हैं, उस-उस जीव ने तब-तब सुख को खोया है और दुःखों को ही पाया है। आगम कहता है कि—आकांक्षायें करने योग्य नहीं हैं, मगर धर्म करने योग्य है। धर्म तो नित्य ही करते रहना चाहिये, लेकिन किसी भी परिस्थिति में धर्म को करते वक्त फल की वांछा नहीं करनी चाहिये। धर्म के काल में आकांक्षायें विशुद्धि का विनाश कर देती हैं साथ-ही-साथ श्रद्धान को भी चकनाचूर कर देती हैं। आकांक्षा भवसागर अर्थात् संसार को बढ़ा देती है और आकांक्षायें प्राणियों के लिये भेंट में कर्मबंध भी प्रदान कर देती हैं। अतः जिन्हें भी शिवगति अर्थात् मोक्ष सुखाभिलाषा है, उन्हें धर्मक्रिया के काल में लौकिक, व्यावहारिक, सामाजिकादि आकांक्षा नहीं करनी चाहिये॥49॥

अकषाय ही धर्म

णवि पुण कुणदु कसायं, जिणवर-वसहस्स धम्म-रागम्हि।
सद्धम्मो अकसायो, किल णवि धम्मो कसायम्हि॥50॥

अन्वयार्थ—(**जिणवर-वसहस्स**) जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थंकर के (**धम्म-रागम्हि**) धर्म के राग में भी (**कसायं णवि कुणदु**) कषाय नहीं करना चाहिये, (**पुण**) क्योंकि (**सद्धम्मो अकसायो किल**) निश्चय से अकषाय भाव ही धर्म है, (**कसायम्हि णवि धम्मो**) कषाय भाव में धर्म नहीं है॥50॥

गाथार्थ—जिनेन्द्रोपदिष्ट धर्म के राग में भी काषायिक परिणति अर्थात् कषाय भाव नहीं करना चाहिये, कारण कि निश्चय से अकषाय ही धर्म है। कषाय भावों में धर्म किंचिद् भी नहीं है॥50॥

विशेषार्थ—प्रत्येक जीव का उन्नयन अथवा विकास उसके ही शान्त परिणामों पर निर्भर करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप काषायिक-परिणति जीवों को नीच-गति की यात्रा कराती है। सामान्य क्षेत्रों में किये गये अशुभ-परिणाम मानवों के लिये पापबंध का कारण बनते हैं, लेकिन धर्मक्षेत्र में या फिर धार्मिक क्रियाओं के काल में किये गये काषायिक-अशुभभाव तीव्रतम पापास्रव-बंध का कारण सिद्ध होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवों का कर्तव्य है—कि वे जिनोपदिष्ट सत्यार्थ-धर्म के राग में किसी भी धर्म या धर्मानुरागी के प्रति अशुभ भाव धारण न करें, क्योंकि धर्म के राग में भी किये गये काषायिक परिणाम दारुण कर्मबंध का हेतु बनते हैं। ध्यान रखना चाहिये—कषाय में धर्म नहीं है, काषायिक भाव में भी धर्म नहीं है, धर्म तो अकषायभाव की परिणति है। अतः अपने व्यवहार में कषाय-भावों को स्थान न देकर, अकषाय-भावों उपशम भावों को ही स्थान देना चाहिये तभी सिद्धशिला में स्थान संभव है॥50॥

क्रियाकाण्ड उपचार से धर्म

सव्वं किरियाकंडं, णो धम्मो धम्मसाहणं अत्थि।
उवयारा तं धम्मो, ण सज्झं साहणादो विणा॥51॥

अन्वयार्थ—(**सव्वं किरियाकंडं**) सकल क्रियाकाण्ड (**धम्मो णो**) धर्म नहीं हैं अपितु (**धम्मसाहणं अत्थि**) धर्म के साधन हैं। चूँकि (**साहणादो विणा**) साधन के बिना (**सज्झं ण**) साध्य नहीं प्राप्त होता, इसलिये (**उवयारा**) उपचार से (**तं**) वह अर्थात् क्रियाकाण्ड भी (**धम्मो**) धर्म है॥51॥

गाथार्थ—सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड धर्म के साधन हैं, क्रियाकाण्ड धर्म नहीं हैं। चूँकि साध्य की प्राप्ति साधन के अभाव में संभव नहीं है, इसलिये उपचार से, अपेक्षा से क्रियाकाण्ड भी धर्म है; ऐसा समझना चाहिये॥51॥

विशेषार्थ—तत्त्वज्ञानी पुरुष साधन को साधन स्वीकारते हैं और साध्य को साध्य स्वीकारते हैं। साधन को साध्य मान बैठना अथवा साध्य को साधन मान बैठना घोर अज्ञानता है। पूजन, स्वाध्याय, जाप, विधान, मंत्रानुष्ठान, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक इत्यादि क्रियाकाण्ड चाहे श्रावक संबंधी हो अथवा श्रमण-श्रमणी विषयक हों, सभी के सभी क्रियाकांड सद्धर्म के समीचीन साधन हैं; ये धर्म नहीं हैं। किन्तु जिनागम में प्राप्त आधार-आधेय संबंध की व्याख्या के अनुसार ये सकल क्रियाकाण्ड सद्धर्म की प्राप्ति के उपाय होने से धर्म स्वीकारे जाते हैं। चूँकि साध्य की प्राप्ति साधन से ही होती है, इसलिये उपचार से सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड भी धर्म ही हैं। अनेकान्त, स्याद्वाद और नयापेक्षा से तत्त्वनिर्णय करना चाहिये, भ्रमित नहीं होना चाहिये॥51॥

निश्चय से आत्म-विशुद्धि ही धर्म

पुण्ण-किरियाउ धम्मो, ववहारा जिणवरेहिं पण्णत्तो।
पाव-किरिया अधम्मो, धम्मो त्ति आद-विसोही खु॥52॥

अन्वयार्थ—(**ववहारा**) व्यवहार से (**पुण्ण-किरियाउ**) पुण्य-क्रियायें (**धम्मो**) धर्म हैं एवं (**पाव-किरिया**) पाप-क्रियायें (**अधम्मो**) अधर्म हैं; (**जिणवरेहिं पण्णत्तो**) ऐसा जिनवरदेवों के द्वारा कहा गया है। (**खु**) निश्चय से (**आद-विसोही**) आत्मा की विशुद्धि ही (**धम्मो त्ति**) धर्म है॥52॥

गाथार्थ—व्यवहार नय से पुण्य-क्रियायें धर्म हैं और पाप-क्रियायें अधर्म हैं। निश्चय से तो आत्म-परिणामों की विशुद्धि ही धर्म है; ऐसा जिनवरदेवों के द्वारा कहा गया है॥52॥

विशेषार्थ—धर्म-अधर्म की व्याख्या आगम ग्रन्थों में नयविवक्षा से भी मिलती है। पापक्रियायें तो सर्वथा अधर्म ही हैं। पापक्रियाओं को करने से पाप, संसार और दुःखों की ही वृद्धि होती है। धर्म की बात की जाये तो व्यवहार नय से सम्पूर्ण पुण्यक्रियाओं को धार्मिक-क्रिया अथवा धर्म कहा गया है, अतः पुण्यक्रियाओं को हेय नहीं मानकर मोक्षमार्ग में पुण्यसंग्रहार्थ उपादेय मानना चाहिये। निश्चयनय की अपेक्षा से क्रियाओं में धर्म नहीं है, धर्म क्रियातीत है। परमार्थ से तो आत्म-विशुद्धि ही धर्म है। परिणामों की विशुद्धि को बनाये रखना उसकी प्राप्ति करना साथ ही साथ आत्मविशुद्धि को निरंतर वर्धमान करते रहना, यही सत्यार्थ-धर्म जानना चाहिये। आत्मविशुद्धि से श्रेष्ठ, बहुमूल्य अन्य कोई पदार्थ या धर्म सकल विश्व में नहीं है। अतः सर्वप्रयत्नों से आत्मविशुद्धि की रक्षा भव्य जीवों को करना चाहिये। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है॥52॥

धर्म और अधर्म का कार्य

सिवदाणं भवहरणं, कज्जं धम्मस्स जाण हे जीव!।
भवभमणं सिवहरणं, कज्जं तुह जाण अधम्मस्स॥53॥

अन्वयार्थ—(**हे जीव! जाण**) हे जीव! तुम जानो कि (**सिवदाणं**) शिवगति का दान और (**भवहरणं**) संसार के परिभ्रमण का हरण (**धम्मस्स कज्जं**) धर्म का कार्य है। इसी प्रकार (**जाण तुह**) हे जीव! तुम यह भी जानो कि (**भवभमणं**) संसार का परिभ्रमण और (**सिवहरणं**) शिवगति का हरण (**अधम्मस्स**) अधर्म का कार्य है॥53॥

गाथार्थ—हे जीव! तुम संक्षेप से इतना जानो कि—शिवगति में प्रवेश और भव/संसार की संतति का छेद ये धर्म का कार्य है अर्थात् धर्म के प्रभाव से मोक्ष की लब्धि और भव-भ्रमण से छुटकारा मिलता है। इसी प्रकार हे जीव! तुम यह भी जानो कि भवभ्रमण और शिवसुख का हरण ये अधर्म का कार्य है अर्थात् अधर्म के प्रभाव से संसार में भ्रमण और मोक्ष सुख का हरण/विनाश होता है॥53॥

विशेषार्थ—धर्म का कार्य जीवकल्याण है और अधर्म का कार्य जीव का अकल्याण है। कल्याण की इच्छा, सुख-शान्ति की अभिलाषा हर प्राणी को है, मगर उस योग्य कार्य करना उस योग्य कारणों की खोज करना कोई नहीं चाहता। तभी जो प्राणियों के लिये दुःख की वृद्धि और सुख का ह्रास होता देखा जा रहा है। धर्म अपना काम नहीं छोड़ता और अधर्म भी अपना दुष्कृत कभी नहीं छोड़ता है। ऐसा जानकर हे भव्यात्मन् ! अगर तुम मोक्षपुरी में प्रवेश और संसार परिभ्रमण का विच्छेद चाहते हो तो धर्म की शरण में रहो, क्योंकि यह धर्म का कार्य है। हे भव्यात्मन् ! अगर तुम संसारसागर में डूबना चाहते हो अथवा मोक्षसुख से वंचित रहना चाहते हो तो अधर्म की शरण में जाओ, क्योंकि यह अधर्म का कार्य है॥53॥

धर्म रहित जीव की गति अधम

जीवो धम्म-विरहिदो, णारय-तिरियं पिसुण-गदिं भजदि।
देवदुग्गदिं अहवा, एसो दिस्सेदि संसारे॥54॥

अन्वयार्थ—(**धम्म-विरहिदो जीवो**) धर्म से विहीन जीव (**णारय-तिरियं**) नारक गति को, तिर्यंच गति को, (**पिसुण-गदिं**) पिशुन गति को (**अहवा**) अथवा (**देवदुग्गदिं**) देव दुर्गति को (**भजदि**) प्राप्त होता है; (**एसो संसारे**) ऐसा संसार में (**दिस्सेदि**) देखा जाता है।।54।।

गाथार्थ—धर्म रहित जीव अर्थात् अधर्मी जीव नारक, तिर्यञ्च, पिशुन/नीच गति अथवा देव-दुर्गति अर्थात् भवनत्रय को प्राप्त होता है; ऐसा संसार में दृश्यमान है, देखा जाता है॥54॥

विशेषार्थ—धर्म शुभगति का साधन है और अधर्म अशुभगति का साधन है, यह बात जगत्प्रसिद्ध है और आगमसिद्ध भी है। जीवदया, पूजन-पाठ, व्रतोपवास, मंत्रजाप, समता, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियायें प्राणियों मंत्रजाप, समता, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियायें प्राणियों के अंदर धर्म की वृद्धि करती हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, बहु-आरंभ-परिग्रह, संक्लेशता, मिथ्यात्व का पोषण, कुगुरु आदि की विनय इत्यादि अधार्मिक क्रियायें प्राणियों के अंदर अधर्म का वर्धन करती हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि धर्म उच्चगति का साधन है और अधर्म अधमगति का साधन है। अधर्म के कारण प्राणी अधर्मी हो जाता है और नरकगति, तिर्यंचयोनि अर्थात् पशु-पक्षी, नीचगति अथवा देवदुर्गति को प्राप्त होता है; इसलिये प्राणियों को अधर्म को छोड़कर धर्म की शरण लेना चाहिये॥65॥

धर्मेश

सामण्णं संधारदि, वेसम्मं णिच्चमेव जो सहदि।
चत्तेदि जो ममत्तं, णूणं सो होदि धम्मेसो॥55॥

अन्वयार्थ—**(जो)** जो जीव **(सामण्णं संधारदि)** श्रामण्य अर्थात् समता को अच्छी तरह से धारण करता है, **(वेसम्मं णिच्चं एव सहदि)** वैषम्य अर्थात् विषमताओं को नित्य ही सहन करता है और **(जो)** जो **(ममत्तं चत्तेदि)** ममत्व को तजता है; **(णूणं)** निश्चित ही **(सो)** वह जीव **(धम्मेसो होदि)** धर्मेश अर्थात् धर्म का ईश्वर होता है॥55॥

गाथार्थ—जो भव्योत्तम जीव निरन्तर ही विषमताओं को सहता है, श्रामण्य परिणामों को अर्थात् समता भावों को भले प्रकार से धारण करता है और साथ ही साथ ममता परिणामों को अर्थात् ममत्व भावों को त्याग देता है; वह जीव निश्चित ही धर्मेश अर्थात् धर्म का ईश्वर केवली भगवंत होता है॥55॥

विशेषार्थ—ऊँचे पद या ऊँचे स्थान की प्राप्ति सामान्य परिश्रम से नहीं विशेष परिश्रम से ही होती है। विशेष-पुरुषार्थ करनेवाले ही विशेष-विशेषण और विशेष गुणों को प्राप्त हो पाते हैं। धर्म का ईश्वर बनना चाहते हो तो कठिन दिनों में भी, विषमताओं में भी अपनी सहनशीलता का परिचय दो अर्थात् सहन करना सीखो। धर्म के ईश्वर बनने के लिये समता भावों को धारण करो और ममता का विसर्जन करो। धर्मेश बनने के लिये आत्मेश बनना आवश्यक है, अतः स्वकषाय में रुकावट लाओ और धर्मेश बन जाओ॥55॥

धर्म सहित और धर्म रहित का लक्षण

जो परदुक्खे हरिसदि, सो जीवो होदि धम्म-रहिदो वा।
जो परसोक्खे हरिसदि, सो जीवो धम्म-संजुत्तो॥56॥

अन्वयार्थ—(**जो**) जो जीव (**परदुक्खे हरिसदि**) पर के दुःख में, पर की पीड़ा में हर्षित होता है (**सो जीवो**) वह जीव (**धम्म-रहिदो होदि**) धर्म से रहित है (**वा**) तथा (**जो**) जो जीव (**परसोक्खे**) पर के सुख में (**हरिसदि**) हर्षित होता है (**सो**) वह (**जीवो**) जीव (**धम्म-संजुत्तो**) धर्ममय है अर्थात् धर्म सहित है॥56॥

गाथार्थ—जो जीव अन्य के दुःख में अर्थात् अन्य को प्राप्त असाता में प्रसन्न होता है वह जीव अधर्मी है, धर्म परिणति से विहीन है और जो जीव अन्य के सुख में अर्थात् अन्य को प्राप्त साता में प्रसन्न चित्त होता है वह जीव धार्मिक है, धर्म परिणति से संयुक्त है॥56॥

विशेषार्थ—हर व्यक्ति और हर वस्तु को पहचानने के लक्षण होते हैं। कुछ लक्षण बहिरंग होते हैं और कुछ लक्षण अंतरंग होते हैं। इन लक्षणों के द्वारा ही जान सकते हैं। प्राणियों के मन में धर्म विद्यमान है या अधर्म। सबसे पहले धर्मरहित और धर्मसहित जीवों के लक्षणों को समझ लेना चाहिये, तभी आप उसकी पहचान कर पाते हैं। धर्मरहित प्राणियों की परिणति स्वसुख और परदुःख की होती है। धर्मसहित जीवों की परिणति स्वपर-सुख वृद्धि और पर-दुःख के नाश की होती है। विचारणीय विषय है यह कि धर्म जिसके अंदर होता है वह स्व-पर के सुख का साधन बनता है, साथ ही साथ स्व-पर के दुःख का पृथकीकरण करना भी धार्मिक जीवों का ही लक्षण है; ऐसा जानना चाहिये॥56॥

धर्म का पालन भावों से

णवि धम्म-पालणं तो, केवल-जादि-कुलादु तं पसू वि।
जदि तादो उत्तमस्स, णिव्वाण-सुहं लहिज्जेदि॥57॥

अन्वयार्थ—(**धम्म-पालणं**) धर्म का पालन (**केवल**) केवल (**जादि-कुलादु**) जाति और कुल के द्वारा (**णवि**) नहीं होता है (**तं तो**) धर्म का पालन तो (**पसू वि**) पशु भी कर सकते हैं। (**जदि तादो**) यदि जाति और कुल से होता तो (**उत्तमस्स**) उत्तम कुल जाति युक्त जीव के लिये (**णिव्वाण सुहं**) निर्वाण सुख (**लहिज्जेदि**) प्राप्त हो जाता॥57॥

गाथार्थ—केवल जाति और कुल के द्वारा धर्म का पालन नहीं होता है, धर्म का पालन तो तिर्यञ्च/पशु भी कर सकते हैं। यदि जाति और कुल आदि से धर्म का पालन होता तो उत्तम कुल और जाति युक्त जीव के लिये निर्वाण सुख अर्थात् मोक्ष हो जाता॥57॥

विशेषार्थ—संसार में नाना प्रकार के जीव रहते हैं, नाना प्रकार की उनकी उपलब्धियाँ रहती हैं और नाना प्रकार की उनकी परिणति भी होती है। उनमें से कुछ जीवों की मान्यता सम्यक् होती है तो कुछ जीव असम्यक् मान्यता के धारी होते हैं। ऐसी ही असत्यार्थ मान्यता वाले जीव धर्म को जाति-कुल से संबंधित कर लेते हैं कि—हम ब्राह्मण कुल या जाति के हैं, सिर्फ हम ही पूज्य हैं, हम ही धर्माचरण के योग्य हैं; शेष को धर्माचरण की अनुमति ही नहीं है। ऐसे जीवों की मान्यता अत्यन्त गलत है। उत्तम जाति या कुल का जीव ही मात्र उत्तम धर्म का पालक नहीं हो सकता। धर्म पालन का अधिकार तो पशुओं तिर्यंचों के लिये भी है। यदि उत्तम जाति-कुलवान् ही धर्म-पालक होता तो सभी उत्तम जाति कुल वाले मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाते, मगर ऐसा देखा नहीं जाता। अतः धर्म की रुचि जिस-जिसके चित्त में है, वे सभी धर्म का पालन कर सकते हैं॥57॥

धर्म हमारी रक्षा करता है, हमें पालता है

रक्खेमु ण मो धम्मं, धम्मो खलु मज्झ रक्खणं कुणदि।
पालेमु ण मो धम्मं, धम्मो खलु मज्झ पालेदि॥५४॥

अन्वयार्थ—(**मो**) हम (**धम्मं**) धर्म की (**ण रक्खेमु**) रक्षा नहीं करते हैं, (**खलुधम्मो**) धर्म ही (**मज्झ**) हमारी (**रक्खणं कुणदि**) रक्षा करता है। (**मो**) हम (**धम्मं**) धर्म को (**ण पालेमु**) नहीं पालते हैं (**धम्मो खलु**) धर्म ही (**मज्झ**) हमारा (**पालदि**) पालन करता है॥५४॥

गाथार्थ—हम धर्म का रक्षण नहीं करते हैं, धर्म ही हम सबका रक्षण करता है। ऐसे ही हम धर्म को नहीं पालते हैं, अपितु धर्म ही हमें पालता है॥५४॥

विशेषार्थ—कई बार सामान्य जन के मुख से ऐसा सुनने में आ जाता है कि—हम सभी धर्म को पालते हैं, धर्म की रक्षा करते हैं। लेकिन चिंतन की गहराइयों में प्रवेश करने पर ज्ञात होता है कि—हम धर्म की रक्षा या पालन नहीं करते, अपितु धर्म ही हमारी रक्षा और पालन करता है। धर्म दानव को मानव बनाता है, जीवों को उत्तम स्थान में रखता है, अशुभ से बचाता है और शुभ में लगाता है। व्यवहार से कहा जाता है कि हम धर्म की रक्षा करते हैं, उसे पालते हैं; किन्तु व्यवहार से ऊपर उठकर सिद्धान्त की अपेक्षा से धर्म ही हमारी रक्षा करता है, हमें पालता है॥५४॥

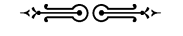

धर्म का संवर्धन वेश के साथ भावों से

संवड्ढण-संरक्खण-पहुदि-कज्जाण मणुण्ण-धम्मस्स।
सद्धिं मुणि-वेसेणं, होदव्वा दिढ-समण-भावा॥59॥

अन्वयार्थ—(**मणुण्ण-धम्मस्स**) मनोज्ञ/दिव्य धर्म के (**संवड्ढण-संरक्खण-पहुदि-कज्जाण**) संवर्धन, संरक्षण, स्थैर्य आदि कार्यों के लिये (**मुणि-वेसेणं सद्धिं**) साधु-वेश के साथ-साथ (**दिढ-समण-भावा**) सुदृढ़ श्रमण/साधु-भाव भी (**होदव्वा**) होने चाहिये॥59॥

गाथार्थ—मनोहारी/दिव्य समीचीन धर्म के संवर्धन, संरक्षण, स्थिरता, प्रचार आदि कार्यकलाप हेतु साधु-वेश के साथ-साथ प्रगाढ़/दृढ़ साधु-भाव भी परमावश्यक हैं॥59॥

विशेषार्थ—भावशून्य क्रिया और क्रियाशून्य भाव किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। धार्मिक-क्रियायें करना भिन्न है और धार्मिक भावों का होना भिन्न है। क्रियायें तो अभ्यास के माध्यम से भी की जा सकती हैं। तभी तो अभव्य जीव मुनिवेश को धारण करके द्रव्यलिंगी बनकर रहता है और क्रियाओं में दक्षता भी प्राप्त कर लेता है, मगर धर्म के फल को अर्थात् शिवसुख को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता है। साधुवेश के साथ साधु-भावों का सद्भाव ही सत्यार्थ सुंदर जिनधर्म का संरक्षण, संवर्धन प्रभावना आदि क्रियाओं को संपादित करने में सक्षम होता है। सिर्फ वेश या सिर्फ भाव दोनों ही अकेले-अकेले साध्य की सिद्धि करने में समर्थवान् नहीं होते हैं। अतः धर्म के संवर्धन-संरक्षण, स्थिरता, प्रभावना, लीनता आदि के लिये भावों के साथ वेश भी अनिवार्य आवश्यक जानो॥59॥

धर्म कहाँ रहता है

पयसम्हि णेव धम्मो, णहे थले णेव वसदि सद्धम्मो।
ललिदे मण-पासादे, सद्धम्मो वसदि धम्मिस्स॥60॥

अन्वयार्थ—(**पयसम्हि धम्मो णेव**) जल में धर्म नहीं है (**णेव**) न ही (**णहे थले**) नभ अर्थात् गगन में, स्थल अर्थात् पृथ्वी में (**सद्धम्मो वसदि**) समीचीन धर्म वास करता है, (**सद्धम्मो**) समीचीन धर्म तो (**धम्मिस्स**) धर्मात्मा के (**ललिदे मण-पासादे**) सुन्दर/मनोहर मनरूपी प्रासाद में (**वसदि**) वास करता है॥60॥

गाथार्थ—समीचीन धर्म न तो जल में है न ही वह आकाश या भूमितल में निवास करता है, समीचीन धर्म तो भव्योत्तम धर्मी अर्थात् धर्मात्मा जीवों के मन रूपी सुन्दर महल में रहता है॥60॥

विशेषार्थ—लोक में अनेकों धर्म-मूढ़तायें, लोक-मूढ़तायें प्रचलन में हैं। कई लोक-मूढ़तायें तो इतनी गहरी जड़ बना चुकी हैं कि—प्राणी चाहकर भी उन्हें छोड़ नहीं पाता। कारण? सामाजिक अथवा मानसिक भय। सच्चा धर्मात्मा इन धर्म विषयक विपरीत रूढ़ियों से स्वयं को अत्यन्त दूर रखता है। संसार में कई अज्ञानी प्राणी जल में धर्म खोजते हैं, जल में धर्म का वास स्वीकारते हैं, गंगा आदि नदियों में स्नान को धर्म मानते हैं। कई अज्ञानी मिथ्यात्वग्रसित मूढ़ प्राणी आकाश में धर्म का वास मानते हैं, तो कई पृथ्वी में उसका निवास मानते हैं अर्थात् पृथ्वी के पूजने को धर्म मानते हैं। किन्तु ये सारी बातें तर्कपूर्ण नहीं हैं और बाधित भी हैं। सत्यार्थ धर्म तो सच्ची श्रद्धा में वास करता है और सत्यार्थ श्रद्धा मानवों को मनरूपी महल में निवास करती है, अतः आधार-आधेय संबंध की अपेक्षा से सद्धर्म भव्यों के मनप्रासाद में निवास करता है॥60॥

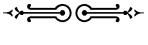

धर्म के राग से सद्गति

वड्ढेदि विउल-रागो, विसएसुं होदि दुग्गदी तस्स।
वड्ढेदि विउल-रागो, धम्मे पुण सग्गदी तस्स॥61॥

अन्वयार्थ—जिस जीव का (**विसएसुं**) विषयों के प्रति (**विउल-रागो**) प्रचुर राग (**वड्ढेदि**) बढ़ता है (**तस्स**) उस जीव की (**दुग्गदी होदि**) दुर्गति होती है, (**पुण**) पुनः जिस जीव का (**धम्मे**) धर्म के प्रति (**विउल-रागो**) प्रचुर-राग (**वड्ढेदि**) बढ़ता है (**तस्स**) उस जीव की (**सग्गदी**) सद्गति होती है॥61॥

गाथार्थ—जिस भी जीव का इन्द्रिय-विषयों के प्रति विपुल-राग वृद्धि को प्राप्त होता है उस जीव की निश्चित ही दुर्गति होती है अर्थात् उस जीव की गति बिगड़ जाती है, लेकिन जिस जीव की रत्नत्रयरूप धर्म के प्रति विपुल-राग वृद्धि को प्राप्त होता है उस जीव की गति निश्चित ही समीचीन होती है अर्थात् उस जीव की सद्गति अथवा अच्छी गति होती है॥61॥

विशेषार्थ—राग परिणति सदा ही बंध का कारण है, किन्तु राग और बंध दोनों के भेद समझना आवश्यक है। राग और बंध प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। प्रशस्त राग से प्रशस्त अर्थात् शुभबंध होता है तथा अप्रशस्त राग से अप्रशस्त अर्थात् अशुभबंध होता है। श्रीमत्कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है कि—अरहंतादि पंचपरमेष्ठी अथवा सत्यार्थ धर्म के प्रति राग प्रशस्त-राग है और पुण्यबंध का कारण है। पुण्यबंध सद्गति का साधन है, इसलिये प्रशस्तराग सद्गति का साधन है।

जिस भी प्राणी के चित्त में स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों में राग की वृद्धि होती है, उस उस प्राणी के विषयानुराग की वृद्धि के कारण दुर्गति की प्राप्ति होती है। वहीं दूसरी ओर जिस भी प्राणी के अंतरंग में सत्यार्थ-धर्म के प्रति प्रगाढ़-विपुल राग उत्पन्न होता है, उस उस प्राणी के सद्गति सहजोपलब्ध हो जाती है। अतः सद्गति के अभिलाषी भव्यात्माओं को राग की वृद्धि धर्म के प्रति करनी चाहिये और इन्द्रिय सुखाभिलाषा के प्रति आसक्ति घटाना चाहिये॥61॥

धर्म से पुण्य-पाप का नाश

धम्मादु पुण्ण-वड्ढी, एवं पावाण णिज्जरा होदि।
पुण्णापुण्ण-विणासो, संचिय-पुण्णेण णियमेण॥62॥

अन्वयार्थ—(**धम्मादु**) धर्म से (**पावाण णिज्जरा**) पापों की निर्जरा (**एवं**) और (**पुण्ण-वड्ढी होदि**) पुण्य की वृद्धि होती है। (**धम्मादु संचिय-पुण्णेण**) धर्म के द्वारा संचित पुण्य से (**णियमेण**) नियम से (**पुण्ण-अपुण्ण-विणासो**) पुण्य और पाप दोनों का विनाश होता है॥62॥

गाथार्थ—धर्म के प्रभाव से पापों की निर्जरा और पुण्य की वृद्धि होती है। पश्चात् उस धर्म के द्वारा संचित पुण्य के माध्यम से पुण्य और अपुण्य/पाप दोनों का विनाश नियम से होता है॥62॥

विशेषार्थ—पाप का सद्भाव जीवों को दुःख देता है, पीड़ित करता है तथा पुण्य का सद्भाव जीवों को सुख देता है। यह बात को सर्वविदित है कि—धर्म करने से, धर्म धारण करने से पाप का क्षय और पुण्य का वर्धन होता देखा जाता है। जब भी कोई भव्यात्मा धर्म में लीन होता है चाहे वह श्रमणधर्म हो या श्रावकधर्म हो; सर्वप्रथम उसके दारुण पाप कर्मों की निर्जरा होती है, फिर उसके विपुल-पुण्य का संचय भी होता है। पुण्य का संचय उसके लिये धर्मादि क्रियाओं के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का संग्रह उपलब्ध करा देता है। अंत में प्रबल पुण्यात्मा भव्यवर पुंडरीक पुण्य से प्राप्त द्रव्यादि चतुष्टय के माध्यम से महाव्रतों को धारण करके, आत्मा में लीनता को प्राप्त करके पुण्य-पाप दोनों का क्षय करता है, इसमें कोई शंका नहीं है॥62॥

धर्म के सिद्धांत

वाणीए सियवादं, जिणवर-धम्मस्स ललिद-सिद्धंता।
अणेयंतो दिट्ठीय, चरियाए चाग-हिंसाए॥63॥

अन्वयार्थ—(**वाणीए सियवादं**) वाणी में स्याद्वाद, (**दिट्ठीय अणेयंतो**) दृष्टि में अनेकान्त एवं (**चरियाए चाग-हिंसाए**) चर्या में हिंसा का त्याग अर्थात् अहिंसा धर्म; ये तीनों ही (**जिणवर-धम्मस्स**) जिनवर के धर्म के (**ललिद-सिद्धंता**) रमणीक सिद्धांत हैं॥63॥

गाथार्थ—वचनों में स्याद्वाद-धर्म, दृष्टि में अनेकान्त-धर्म तथा चर्या में/आचरण में अहिंसा-धर्म, जिनेन्द्र कथित धर्म के मनोहर-सुन्दर सिद्धांत ये ही तीनों है॥63॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के अर्हत् शासन वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले अनेकों सत्सिद्धांतों का निरूपण समुपलब्ध है। उन अनेकों सिद्धांतों में सारभूत तीन सिद्धांतों को समझना चाहिये। प्रथमतो वाणी में, वचनों में स्याद्वादरूपी अमृत का होना, दूसरा दृष्टि में अनेकान्त-धर्म का सद्भाव सदा बने रहना और तीसरा आचरण में, अपनी चर्या में अहिंसा धर्म का पालन और प्रदर्शन होना; ये ही जिनवर द्वारा प्रणीत सत्यार्थ धर्म के तीन बहुमूल्य सिद्धान्त हैं। स्याद्वाद और अनेकान्त दर्शन तथा ज्ञान गुण की रक्षा करते हैं। अहिंसा का सिद्धांत चारित्र गुण की रक्षा करता है। अतः स्वात्मा की रक्षा के लिये, रत्नत्रय की रक्षा के लिये, शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष गमन के लिये अनेकान्त, स्याद्वाद और अहिंसा के सिद्धान्त का परिपालन करना चाहिये॥63॥

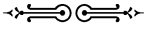

धर्म किसी एक का नहीं सभी का है

केवल-माणव-धम्मो, हवदे णो जिणवरस्स वरधम्मो।
जीव-मेत्तस्स धम्मो, वाऊ इव होदि जिणधम्मो॥64॥

अन्वयार्थ—(**जिणवरस्स वरधम्मो**) जिनेन्द्र प्रभु का उत्तम धर्म (**केवल-माणव-धम्मो णो हवदे**) केवल मानव-धर्म नहीं होता है, यह तो (**जीव-मेत्तस्स**) प्राणी मात्र का (**धम्मो**) धर्म है। (**जिणधम्मो**) जिनधर्म (**वाऊ इव होदि**) वायु के सदृश होता है अर्थात् उस पर सभी का समान अधिकार है॥64॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् का उत्तम धर्म केवल मानव-धर्म नहीं है, जिनधर्म तो प्राणीमात्र का धर्म है। वास्तविकता में जिनधर्म वायु के सादृश्य है, उस पर सभी का समान अधिकार है॥64॥

विशेषार्थ—धर्म न तो सीमित होता है, न ही किसी पक्ष या जाति विशेष का होता है, धर्म तो जो माने उसका होता है। कई ग्रन्थकार या ग्रन्थों की ये मान्यता है कि मनुष्य ही धर्म का पालन कर सकते हैं, किन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों से बाधित है। जिनधर्म सत्यार्थधर्म मानव विशेष का धर्म नहीं है, यह तो प्राणी मात्र का धर्म है। चाहे पशु-पक्षी हों, नरक के नारकी हों या स्वर्ग के देव हों, धर्म पर सबका सामान अधिकार हैं कुछ लोगों की मान्यता यह भी है कि—परमात्मा कोई नहीं बन सकता, परमात्मा की सिर्फ भक्ति करके उनसे मिला जा सकता है; ऐसी मान्यता भी गलत है। परमात्मा की भक्ति परमात्मा बनने के लिये की जाती, उनसे सिर्फ मिलने के लिये नहीं।

अतः इस बात को अच्छे से समझे धर्म करने का अधिकार सबका है और धर्म के फल की प्राप्ति का अधिकार भी सबका है। धर्म तो वायु की तरह है, इस पर सबका समान अधिकार है। ऐसा जानो॥64॥

धर्म सब कुछ है

धम्मो हि कप्प-रुक्खो, धम्मं हि होदि चिंतामणि-रयणं।
अविणासि-णिही धम्मो, एवं सुदिढ-पासादो तं॥65॥

अन्वयार्थ—(**धम्मो हि**) धर्म ही (**कप्प-रुक्खो**) कल्पतरू है, (**धम्मं हि**) धर्म ही (**चिंतामणि-रयणं**) चिंतामणि रत्न (**होदि**) है, (**धम्मो अविणासि-णिही**) धर्म ही अविनाशी निधि है, (**एवं**) और (**तं**) वह ही (**सुदिढ-पासादो**) बलिष्ठ-प्रासाद है॥65॥

गाथार्थ—धर्म ही कल्पवृक्ष है अर्थात् सर्वमनोरथों को पूर्ण करनेवाला है, धर्म ही चिंतामणि रत्न है अर्थात् मनोवांछित फल प्रदायक है, धर्म ही अविनाशी निधि है अर्थात् शाश्वत है तथा धर्म ही बलिष्ठ-दृढ़-प्रासाद है॥65॥

विशेषार्थ—बाहरी चीज़ों की चाह रखनेवालों को भी धर्म की शरण में रहना चाहिये। यद्यपि धर्म आंतरिक उपलब्धियों के लिये ही किया जाता है तथापि धर्म सब कुछ देने में सक्षम है और धर्म ही सब कुछ है। जिसके पास धर्म-प्रवृत्ति है उस जीव को अन्य किसी भी चीज़ की जरूरत नहीं पड़ती। धर्म ही सर्वमनोवांछाओं को पूर्ण करनेवाला अविनाशी कल्पवृक्ष है। धर्म करने वाले के पास कल्पवृक्ष सम प्रचुर पुण्य संचित हो जाता है। धर्म ही चिंतामणि रत्न है। कारण कि चिंतित, अचिंतित, अर्धचिंतित वस्तु को अथवा सभी कुछ देनेवाला धर्म ही चिंतामणिरत्न है।

धर्म शाश्वत निधि है। इस धर्म के माध्यम से ही प्राणी अक्षय निधि को प्राप्त कर पाता है। धर्म ही सुदृढ़ महल है जिसमें ये धर्ममय आत्मा सर्वविध सुरक्षित रह सकती है। अतः धर्म ही सब कुछ है॥65॥

मानव की शोभा धर्म से

धण्णादो वरदेसो, कमला वेगा सरोवरो अस्सो।
सूरो पुण सत्थादो, झाण-तवादो महा-समणो॥66॥

मय-फला इहो रक्खो, पूया-दाणादु सावयो सोहा।
जह तह अही मणीदो, सोहजुदो माणवो धम्मा॥67॥(जुगं)

अन्वयार्थ—(**जह**) जिस प्रकार (**धण्णादो वरदेसो**) धान्यों से श्रेष्ठ देश (**कमला सरोवरो**) कमलों से सरोवर, (**वेगा अस्सो**) वेग से अश्व, (**सत्थादो सूरो**) शस्त्रों से शूरवीर (**झाण-तवादो महासमणो**) ध्यान और तपों से महान् साधु (**पुण**) एवं (**मय-फला इहो रक्खो**) मद से इभ अर्थात् हाथी, फल से वृक्ष, (**पूया-दाणादु सावयो**) दान-पूजा से श्रावक (**मणीदो अही**) मणि से अही अर्थात् सर्प (**सोहा**) शोभायमान होता है (**तह**) उसी प्रकार (**धम्मा**) धर्म से ही (**माणवो सोहजुदो**) मानव/जीव शोभायुक्त अर्थात् शोभायमान होता है॥66-67॥

गाथार्थ—जिस प्रकार उत्तमदेश की शोभा धान्यों से होती है, सरोवर की शोभा कमलों से होती है, वाजिन् अर्थात् अश्व की शोभा उसके वेग/गति से होती है, शूरवीर की शोभा शस्त्रों से होती है, महान् साधुओं की शोभा तप और ध्यान से होती है, करी अर्थात् हस्ती की शोभा मद से होती है, वृक्ष की शोभा फलों से होती है, भुजंग अर्थात् सर्प की शोभा मणि से होती है और श्रावक की शोभा दान और पूजा से होती है; उसी प्रकार मानव/जीव की शोभा धर्म से होती है॥66-67॥

विशेषार्थ—पाश्चात्य-सभ्यता से भारतीय-सभ्यता असभ्यता की ओर जाती जा रही है। वर्तमान में मनुष्य अपनी सच्ची शोभा को भूल चुका है। मनुष्य की सच्ची शोभा उसकी सुंदरता, उसके बड़े घर, उसकी महंगी गाड़ी,

या उसके विदेश में पढ़ने-नौकरी करनेवाले बच्चों इत्यादि से नहीं है। मानव की सत्यार्थ शोभा मानव के अंदर स्थित धर्म से ही होती है।

परवस्तु से आकर्षित मानव असत्य में सत्य की कल्पना कर बैठता है, किन्तु हानि के उपस्थित होने पर उसे ज्ञान होता है कि—मैं तो असत्य के मार्ग का चयन कर बैठा हूँ। विरले मनुष्य हैं जो स्वपर के उपदेश आदि अन्य-अन्य निमित्तों से प्रतिबोध को प्राप्त हो रहे हैं अथवा होंगे।

धर्म ही शोभनीय है और सत्यार्थधर्म से ही मानव की शोभा है। जैसे उत्तमदेश या राज्य की शोभा प्रचुर-धान्य से होती है, जैसे सरोवरों की शोभा सुंदर कमलों से होती है, जैसे घोड़े की शोभा उसके वेग अर्थात् गति से होती है, जैसे शूरवीर योद्धा की शोभा उसके अस्त्र-शस्त्रों से होती है, जैसे महाश्रमणों की शोभा उनके ध्यान और तप से होती है, जैसे उत्तम श्रावक की शोभा उसके दान और पूजन से होती है, जैसे हाथी की शोभा उसके मद से होती है, जैसे कृष्ण सर्प की शोभा उसकी मणि से होती है, जैसे वृक्ष की शोभा मधुर फलों और गहन छाया से होती है; ठीक उसी प्रकार मानव की शोभा सत्यार्थ अहिंसा धर्म से ही होती है।

अतः प्रत्येक मानव को स्वयं को शोभनीय बनाने के लिये सच्चे धर्म को हमेशा अपने चित्त में धारण करना चाहिये॥66-67॥

क्रोधी आदि जीव को धर्मज्ञान कहाँ

मत्त-पमत्तुम्मत्ता, कोही लोही खुहाउरो कामी।
मायाविणो य संतो, सुहियो धम्मं ण जाणेदि॥६४॥

अन्वयार्थ—(**मत्त-पमत्त-उम्मत्ता**) मत्त अर्थात् मदोन्मत्त, प्रमत्त अर्थात् असावधान, उन्मत्त अर्थात् विक्षिप्त, (**कोही**) क्रोधी, (**लोही**) लोभी, (**कामी**) कामातुर, (**खुहाउरो**) क्षुधातुर, (**मायाविणो**) मायावी, (**संतो**) श्रान्त अर्थात् थके हुये (**य**) और (**सुहियो**) सुखिया अर्थात् सुखप्रिय जीव (**धम्मं**) धर्म को (**ण जाणेदि**) नहीं जानता है॥६४॥

गाथार्थ—मदोन्मत्त अर्थात् अहंकारी, असावधान, विक्षिप्त (पागल), क्रोधी, लोभी, कामासक्त, क्षुधासक्त, मायाचारी युक्त, थका हुआ (श्रान्त), और सुखाभिलाषी जीव को धर्म का ज्ञान नहीं होता अर्थात् उपर्युक्त स्वभाववान जीव धर्म नहीं जानता है॥६४॥

विशेषार्थ—धर्म की चाह रखनेवाले जीवों को स्वयं के स्वभाव में परिवर्तन करना चाहिये। जैसे उत्तम वस्तु उत्तमपात्र में रखी जाती है, सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहरता है, ठीक इसी प्रकार उत्तमधर्म भी गुणवान, धर्मात्माओं के अंदर ही ठहरता है। ध्यान रखें—अहंकारी, असावधान, उन्मत्त, पागल, तीव्रक्रोधी, तीव्रलोभी, कामासक्त, भूखपीड़ित, माया परिणाम युक्त, थके हुये और सुखाभिलाषा युक्त जीवों के चित्त में धर्म कभी नहीं प्रवेश करता हैं इसलिये धर्मलाभ के इच्छुक प्राणियों को अपने व्यवहार और स्वभाव में समीचीनता लानी चाहिये और मद, पागलपन, क्रोधादि उपर्युक्त अवगुणों को दोषों को स्वयं से पृथक् करना चाहिये॥६४॥

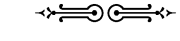

पाप-क्रियाओं से धर्म का नाश

णीच-पाव-किरियाहिं, जिणवर-धम्मस्स वड्ढणं णत्थि।
ताहिं कित्ती पुण्णं, सव्वे धम्मा विणस्संति॥69॥

अन्वयार्थ—(**णीच-पाव-किरियाहिं**) नीच, हीनाचरणी, पाप क्रियाओं से (**जिणवर-धम्मस्स**) जिनेन्द्र के धर्म का (**वड्ढणं णत्थि**) वर्धन नहीं होता, (**ताहिं**) उन क्रियाओं के करने से (**कित्ती पुण्णं**) कीर्ति, पुण्य (**सव्वे धम्मा**) अथवा अन्य सभी गुणरूप धर्म (**विणस्संति**) नष्ट हो जाते हैं॥69॥

गाथार्थ—निकृष्ट और पाप क्रियाओं के माध्यम से जिनेन्द्र कथित धर्म का संवर्धन कदापि नहीं हो सकता है, अपितु उन क्रियाओं के करने से कीर्ति-पुण्य आदि सकल गुण धर्मों का विनाश हो जाता है॥69॥

विशेषार्थ—स्वधर्म और परधर्म की रक्षा करना प्रत्येक धर्मात्मा जीव का धर्म है कर्तव्य है। परधर्म की रक्षा उपदेश, उपगूहन, स्थितिकरणादि गुणों से की जाती है। स्वधर्म की रक्षा के लिये स्वयं के अंदर गुणों की वृद्धि और अवगुणों की हानि करना अनिवार्य कार्य है। स्वगुणों की रक्षा और वृद्धि करनेवाला ही स्वधर्म की रक्षा कर पाता है। जिनेन्द्र देव द्वारा संभाषित समीचीन धर्म की रक्षा करना धर्मात्माओं का कर्तव्य हैं हीनाचरण, शिथिलाचार, मृदुलाचार, पापक्रियाओं से जिनधर्म का विवर्धन असंभव है इनसे तो जिनधर्म की हानि होती है। हीनाचरण, पापयुक्त निकृष्ट क्रियाओं को छोड़ने से जिनधर्म की रक्षा होती है। पापयुक्त क्रियायें तो कीर्ति-विनाश और पुण्यक्षय का कारण हैं। अतः भव्यात्माओं को धर्ममयचित्त वाले जीवों को पाप क्रियाओं से स्वयं को दूर रखकर धर्म की रक्षा करना उचित है॥69॥

धर्म ही शरण

मुच्छिदो विसय-विसादु, इट्ठ-वियोगा अणिट्ठ-संजोगा।
पीडिदाणं सुसरणं, मेत्तं धम्मं मुणेदव्वं॥70॥

अन्वयार्थ—(**विसय-विसादु मुच्छिदो**) विषयरूपी विषों से मूर्च्छित और (**इट्ठ-वियोगा अणिट्ठ-संजोगा**) इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग से (**पीडिदाणं**) पीडित जीवों के लिये (**मेत्तं धम्मं**) मात्र धर्म ही (**सुसरणं**) समीचीन शरण है, (**मुणेदव्वं**) ऐसा जानना चाहिये॥70॥

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय विषयरूपी विषों से मूर्च्छित जीवों के लिये तथा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग से पीड़ित जीवों के लिये मात्र जिनधर्म ही सम्यक्शरण समझना चाहिये॥70॥

विशेषार्थ—अच्छे वक्त में अच्छे लोगों की संगत वर्तमान और भविष्य दोनों को अच्छा कर देती है, किन्तु अच्छे वक्त में बुरे लोगों की संगत सर्वकालों को बुरा कर देती है। सही मायने में संगत और शरण का आपके जीवन में बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। अशुभ के काल में भव्य जीवों की एकमात्र शरण है धर्म। अरहंत, सिद्ध, साधुओं की शरण भी धर्म की शरण है। विषयों से आसक्ति घटाने के लिये जीवों को शरण बदल देना चाहिये। आगम का भी यही कथन है कि—जैसे ताप से पीड़ित पुरुष को शीतोपचार देते ही वह ताप रहित ऊष्मा रहित हो जाता है, ठीक वैसे ही विषयासक्त अथवा विषयों से संतप्त प्राणी के लिये धर्म शीतोपचारवत् कार्यकारी होता है। इष्टवियोग पीड़ा हो या फिर अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान हो, सभी का शमन धर्म की शरण से ही संभव है; ऐसा जानना चाहिये॥70॥

धर्म-शरण में जीवरक्षा

तावं हि तस्स रक्खा, जावं मीणो वसेदि पयसम्हि।
तावं हि जीव-रक्खा, जावं सो धम्म-सरणम्हि॥71॥

अन्वयार्थ—(**जावं**) जब तक (**मीणो**) मीन/मत्स्य (**पयसम्हि वसेदि**) नीर में रहती है (**तावं**) तब तक (**हि**) ही (**तस्स रक्खा**) उसकी रक्षा है। (**तावं**) तब तक (**हि**) ही (**जीव-रक्खा**) जीव की रक्षा है (**जावं सो**) जब तक वह (**धम्म-सरणम्हि**) धर्म की शरण में है॥71॥

गाथार्थ—जब तक मत्स्य/मछली नीर में रहती है, तभी तक उसकी रक्षा संभव है। वैसे ही तभी तक जीव की रक्षा संभव है जब तक जीव धर्म की शरण में है॥71॥

विशेषार्थ—हर प्राणी को स्वरक्षा का उपाय खोजना चाहिये। स्वरक्षा के लिये समीचीन शरण परम उपादेय होती है। सच्ची शरण के अभाव में जीव भटकता रहता है और दुःखों से पीड़ित भी होता रहता है। इसलिये प्रत्येक प्राणी का यह मुख्य कर्तव्य है कि उसे स्वात्म-रक्षा के योग्य सर्वश्रेष्ठ शरण का अन्वेषण और शीघ्र ही उस शरण की प्राप्ति करना चाहिये। जैसे मछली को अपने प्राणों की रक्षा के लिये जल की शरण आवश्यक है, ठीक वैसे ही प्रत्येक प्राणी को स्वविशुद्ध परिणामों और स्वपर्याय की रक्षा के लिये धर्म रूपी अमृत की शरण आवश्यक है। अतः अन्य सुखप्रद दिखनेवाली शरण को छोड़कर प्राणियों को एकमात्र धर्म की ही शरण लेना चाहिये॥71॥

धर्म-भावना से जीवरक्षा

भव्वजीवस्स चित्ते, वसेदि धम्मस्स भावणा जावं।
तावं तस्स णो कोवि, कुव्वदि असुहं तुमं जाण॥72॥

अन्वयार्थ—(**जावं**) जब तक (**भव्वजीवस्स चित्ते**) भव्यजीव के मन में (**धम्मस्स भावणा**) धर्म की भावना (**वसेदि**) वास करती है (**तावं**) तब तक (**कोवि तस्स**) कोई भी उसका/ जीव का (**असुहं**) अशुभ (**णो कुव्वदि**) नहीं कर पाता है; (**तुमं जाण**) ऐसा हे जीव! तुम जानो॥72॥

गाथार्थ—हे जीव! तुम जानो कि जब तक भव्य जीव के पवित्र मन में धर्म की मंगल/शुभ भावना वास करती है, तब तक कोई भी उस भव्य जीव का अशुभ नहीं कर सकता है॥72॥

विशेषार्थ—संसार में सारे जीव कर्म पीड़ित हैं। यद्यपि उदय में आनेवाले कर्म जीवों के द्वारा ही आमंत्रित किये जाते हैं, फिर भी जीव के अंदर अनादि से दूसरों को दोष देने के संस्कार होने के कारण जीव कर्मों को दोषी कहता है। भावनाओं का मानव जीवन में बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। बड़ी से बड़ी विपत्ति भी सत्यार्थ-धर्म की भावना से संपत्ति में परिवर्तित हो जाती है। इसलिये भव्यात्माओं को अपने चित्त में हमेशा धर्म की भावना जाग्रत करके रखना चाहिये, यदि अशुभ से स्व की रक्षा की इच्छा है तो। जब तक भव्यप्राणियों के चित्त में धर्म की भावना विद्यमान रहती है, तब तक उस जीव का कोई भी अशुभ नहीं कर पाता है। ऐसा निश्चय से जानना चाहिये॥72॥

धर्म कब धारण करें

जाव ण खीणदि आऊ, वुड्ढत्तं चेव णेव जाएदि।
करणेसुं सामत्थं, तावं धारिज्ज धम्मं तं॥73॥

अन्वयार्थ—(**जव**) जब तक (**आऊ ण एव खीणदि**) आयु क्षीण नहीं हुई है, जब तक (**वुड्ढत्तं णेव जाएदि**) बुढ़ापा नहीं उत्पन्न हुआ है (**च**) और (**करणेसुं सामत्थं**) जब तक इन्द्रियों में सामर्थ्य है (**तावं**) तब तक (**तं धम्मं**) उस धर्म को (**धारिज्ज**) धारण कर लेना चाहिये॥73॥

गाथार्थ—जब तक आयु क्षीण नहीं हुई है, जब तक वृद्धत्व/जरा-अवस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और जब तक इन्द्रियों में सामर्थ्य है अर्थात् जब तक इन्द्रियाँ शिथिल न हुई हों तब तक जीवों को धर्म धारण/ग्रहण कर ही लेना चाहिये॥73॥

विशेषार्थ—प्रायः करके प्रत्येक संसारी प्राणी मानव पर्याय प्राप्त करके इन्द्रिय सुखानुभूति में लिप्त हो जाता है और सुरदुर्लभ मनुष्य पर्याय के प्रयोजन को भूल जाता है। अंत-समय निकट आने पर, रुग्णावस्था आ जाने पर, असाध्य रोग हो जाने पर उसे परमात्मा और धर्म की याद आती है तथा तब तक बहुत देर हो जाती है। प्राणियों को युवा-अवस्था में ही धर्म की शरण ले लेना चाहिये, धर्म-धारण कर लेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि—युवा-अवस्था में जो तपस्या नहीं करता धर्म-धारण नहीं करता, वह वृद्ध अवस्था में जरजर-शरीर वाला होकर स्वयं तो तपस्या से विमुख हो जाता है और दूसरों के लिये भी विघ्न उपस्थित करता है। अतः जब तक आयु क्षीण नहीं हुई, जब तक बुढ़ापा उत्पन्न नहीं हुआ और जब तक इन्द्रियाँ सामर्थ्यवान् हैं, तब तक जीव को धर्म-धारण कर ही लेना चाहिये, धर्माचरण में लीन हो ही जाना चाहिये॥73॥

धर्म कभी मत छोड़ो

सिरि-थी-जीवण-रागे, धम्म-विवरीद-कज्जं णवि कुज्जा।
सव्वं दव्वं मुंचहि, णवि मुंचहि सम्म-धम्मं तु॥74॥

अन्वयार्थ—(**सिरि-थी-जीवण-रागे**) श्री, स्त्री और जीवन के राग में (**धम्म-विवरीद-कज्जं**) समीचीन-धर्म के विरुद्ध कोई भी कार्य (**णवि कुज्जा**) नहीं करना चाहिये। (**सव्वं दव्वं मुंचहि**) सम्पूर्ण द्रव्यों को छोड़ दो (**तु**) परन्तु (**सम्म-धम्मं**) सम्यग्धर्म को (**णवि मुंचहि**) नहीं छोड़ो॥74॥

गाथार्थ—श्री/धन, स्त्री और जीवन आदि के राग के कारण वीतराग-धर्म के विपरीत कोई भी कृत्य नहीं करना चाहिये। सब कुछ छोड़ देना परन्तु सम्यग्धर्म को कभी मत छोड़ देना॥74॥

विशेषार्थ—मानव विवेकवान प्राणी है और इसी विवेक के कारण मानव पर्याय सर्वोपरि मानी जाती है। 84 लाख योनियों में उत्तम योनि अगर कोई है तो वह मनुष्य योनि है। किन्तु मोहवश यह प्राणी इस मनुष्य पर्याय का प्रयोजन भूल जाता है और मनुष्य पर्याय के इस सुंदर आयोजन को निष्फल कर देता है। हर प्राणी को हमेशा स्मृति में रखना चाहिये कि—मोह, राग, द्वेष की परिणति लाभदायक नहीं हानिकारक ही है। चाहे राग-द्वेष चेतन वस्तु से संबंधित हो या फिर अचेतन वस्तु से संबंधित हो, राग-द्वेष तो हानिप्रद ही है। कई बार भोले प्राणी अज्ञानता वश सत्यार्थधर्म को भी रागादि के कारण छोड़ते पाये जाते हैं। अतः श्री, स्त्री और जीवन के राग के कारण कभी भी किसी भी परिस्थिति में धर्म के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। ध्यान रखना—सम्पूर्ण द्रव्यों को छोड़ देना, त्याग देना; उनसे मुख मोड़ लेना, किन्तु भूतार्थ-धर्म से कभी भी विमुख मत होना, सत्यार्थ-धर्म को कभी मत छोड़ना॥74॥

धर्म-प्रासाद के चार स्तंभ

धम्मसोहस्स थंभा, दंसण-णाणं चरित्त-तवयरणं।
एग-थंभस्स णासे, णासो किल धम्मसोहस्स॥75॥

अन्वयार्थ—(**दंसण-णाणं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, (**चरित्त तवयरणं**) सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तपश्चरण (**धम्म-सोहस्स थंभा**) धर्मरूपी राजमहल के चार स्तंभ हैं। (**एगथंभस्स णासे**) एक स्तंभ के नष्ट हो जाने पर (**किल**) निश्चित ही (**धम्मसोहस्स णासो**) धर्मरूपी राजमहल का विनाश भी हो जाता है॥75॥

गाथार्थ—धर्मरूपी प्रासाद अर्थात् राजमहल के चार सुदृढ़ स्तंभ हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। एक भी स्तंभ के विनष्ट होने पर निश्चित ही धर्मरूपी राजमहल का विनाश भी हो जाता है॥75॥

विशेषार्थ—चाहे भवन हो या महल या फिर छोटी-सी अटारी ही क्यों न हो, सभी की स्थिरता के लिये दृढ़-स्तंभों की आवश्यकता पड़ती है। स्तंभों के हिलते ही भवनादि की स्थिति भी नहीं बन पाती है। व्यवहार भवन के निर्माण की तरह, परमोपादेय भूत धर्म रूपी प्रासाद के निर्माण और स्थिति के लिये भी स्तंभों की आवश्यकता पड़ती है। धर्म के मुख्य चार स्तंभ है जिन्हें प्रायः करके सिद्धांतों में हम आराधना के ही नाम से जानते हैं। ये चार स्तंभ हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। सबसे आवश्यक स्तंभ है सम्यग्दर्शन, क्योंकि इसी स्तंभ पर शेष स्तंभों की समीचीनता टिकी हुई है। सम्यग्दर्शन की मुख्यता होने पर भी शेष अर्थात् सम्यग्ज्ञान-चारित्र और तप को नकारा नहीं जा सकता है। क्योंकि सभी की अपनी-अपनी उपयोगिता भी है। अतः चारों ही स्तंभ आवश्यक हैं, एक के भी अभाव होने पर शेष का अभाव हो जाता है; अर्थात् चारों ही आराधनाओं में से किसी एक के विनाश होने पर शेष आराधनायें भी विनाशता को प्राप्त हो जाती हैं॥75॥

धर्म से जब शिवसुख, तब तुच्छ क्यों नहीं

वर-धम्माचरणादो, सिवसुह-लद्धी जदा तदा होदि।
किं तादो णेव होदि, सग्गादी-तुच्छ-सुह-लद्धी॥76॥

अन्वयार्थ—(**वर-धम्म-आचरणादो**) उत्तम धर्म का आचरण करने से (**जदा**) जब (**सिवसुह-लद्धी**) निर्वाण सुख की उपलब्धि (**होदि**) हो जाती है, (**तदा**) तब (**सग्गादी तुच्छ-सुह-लद्धी**) स्वर्गादि तुच्छ अभ्युदय सुखों की उपलब्धि (**तादो**) उस उत्तम धर्म के आचरण से (**किं णेव होदि**) क्या नहीं हो सकती अर्थात् अवश्य हो सकती है॥76॥

गाथार्थ—जब उत्तम अर्थात् वीतराग धर्म के आचरण के प्रभाव से संसिद्धि अर्थात् परमनिर्वाण सुख की प्राप्ति हो जाती है, तब स्वर्गादि तुच्छ/तृणवत् अभ्युदय सुखों की प्राप्ति उस धर्माचरण के प्रभाव से क्या नहीं प्राप्त हो सकती, निश्चित रूप से हो सकती है॥76॥

विशेषार्थ—धर्म का आचरण और धर्म की क्रियायें जब भी करें निष्कांक्ष भाव से करें। आकांक्ष-भाव से किया गया धर्माचरण विपुल फल नहीं देता। एक किसान धान्य के बीजों को भूमि में डालता है तो वह डाले हुये दानों से होने वाले फल अथवा दानों की चिंता करता है, चारे आदि भूसे की नहीं, ठीक इसी प्रकार उत्तम धर्म-आचरण करनेवाला धर्म के फल निर्वाण पर दृष्टि रखता है। भूलकर भी वह सुखादि की चाह नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि स्वर्गादि सुख तो निर्वाण सुख के सामने तुच्छ ही हैं। भव्यात्मा इस बात पर पूरा विश्वास रखता है कि—वीतराग धर्म का आचरण करने से जब मोक्षसुख की प्राप्ति हो जाती है तब स्वर्गादि तुच्छ सुखों की चाह क्या करना वह तो चरमशरीरी न होने पर मिलेगा ही मिलेगा। अतः धर्म अनंतसुख देनेवाला है, ऐसा जानकर तुच्छ सुखों की इच्छा न करें; वह तो मिलता ही है धर्माचरण से॥76॥

रत्नों में रत्न धर्मरत्न

रयणेसुं वर-रयणं, लोएसु धम्मरयण-मेत्तं किल।
सिव-रमणीए लद्धी, तेण विणा कदावि ण भवदि॥77॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**धम्मरयण-मेत्तं**) केवल एक धर्म रूपी रत्न ही (**लोएसु**) तीनों लोकों में (**रयणेसुं वर-रयणं**) रत्नों में श्रेष्ठतम रत्न है। (**तेण विणा**) धर्मरत्न के बिना (**सिव-रमणीए लद्धी**) मुक्तिकन्या/शिवरमणी की प्राप्ति (**कदावि**) कदापि/कभी भी (**ण भवदि**) नहीं हो सकती है॥77॥

गाथार्थ—तीनों लोकों में निश्चय से रत्नों में श्रेष्ठतम रत्न केवल एक धर्मरूपी रत्न ही है। इस धर्मरूपी रत्न के बिना शिवरमणी का वरण अर्थात् मुक्त्यंगना की समुपलब्धि त्रैकाल्य में भी संभव नहीं हो सकती है॥77॥

विशेषार्थ—हर कीमती दिखनेवाली चीज़ जरूरी नहीं कि—कीमती ही हो। संसार में उपलब्ध हैं बहुत सारे रंग-बिरंगे सुंदर रत्न-मणि-मुक्तादि, जिनकी सांसारिक दृष्टि से बहुत कीमत है, मगर धार्मिक-दृष्टि से ये रत्न धर्मरत्न के सामने कुछ भी नहीं हैं। कई लोगों का मानना है कि—हीरा श्रेष्ठ रत्न है, तो कई लोग कोहिनूर को श्रेष्ठ रत्न मानते हैं, मगर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ रत्न भी धर्मरत्न के सामने कंकड और पत्थर के तुल्य हैं। कारण कि ये रत्न इसी जन्म तक आपका साथ देते हैं, मगर धर्मरत्न जन्मों-जन्मों तक आपका साथ नहीं छोड़ता है। सांसारिक-रत्न तो चुराये भी जा सकते हैं, मगर धर्मरत्न चुराया नहीं जा सकता है। अतः निश्चय से तीनों लोकों में धर्मरूपी रत्न ही श्रेष्ठरत्न है, क्योंकि इस रत्न के कारण ही शिवरमणी, मुक्तिवधु की प्राप्ति हो सकती है॥77॥

धर्म सेतु, धर्म अग्नि है

धम्मो त्थि चित्त-भाणू, दज्झेदुं कम्ममय-विउल-दुग्गं।
धम्मो त्थि सुदिढ-सेदू, तारेदुं भव-समुद्दं च॥78॥

अन्वयार्थ—(**कम्ममय-विउल-दुग्गं**) कर्मरूपी विशालदुर्ग/किले को (**दज्झेदुं**) जलाने के लिये (**धम्मो**) धर्म (**चित्तभाणू**) चित्रभानु अर्थात् प्रचण्ड अग्नि (**त्थि**) है (**च**) और (**भव-समुद्दं**) भवसागर अर्थात् संसार रूपी महाभयानक सागर को (**तारेदुं**) पार करने के लिये (**धम्मो**) धर्म (**सुदिढ-सेदू**) अत्यन्त दृढ़ सेतु (**त्थि**) है॥78॥

गाथार्थ—कर्ममय विपुल, विस्तृत दुर्ग अर्थात् किले को जलाने के लिये धर्म प्रचण्ड अग्नि अर्थात् चित्रभानु है तथा सांसार रूपी अत्यन्त भयकारी वारिधि को पार करने के लिये अत्यन्त मज़बूत/बलिष्ठ सेतु धर्म है॥78॥

विशेषार्थ—वास्तविकता में धर्म के लिये जो भी जितनी भी उपमायें दी जायें, सब न्यून ही रहेंगी। धर्म भव्यप्राणी के लिये सभी प्रकार से सहायक होता है। चाहे पुण्यवृद्धि हो चाहे पापक्षय हो, धर्म से सभी कुछ संभव है। धर्म अग्नि भी है, धर्म सेतू भी है। धर्म को जितनी भी उपमा में दी जाती हैं, वे सब की सब अपेक्षाकृत ही दी जाती हैं। अतः उपमायें अपेक्षाकृत हों तो कोई विरोधाभास नहीं प्रतीत होगा। धर्म अग्नि है। कर्मरूपी महा दुर्ग/किले को जलाने के लिये नष्ट करने के लिये धर्म अग्नि हैं। धर्म सेतु भी है। भवसागर रूपी महाभयंकर समुद्र को निर्विघ्नता से पार कराने के लिये धर्म सेतु भी है। अतः धर्म अग्नि भी है और धर्म सेतु भी है॥78॥

धर्म कभी मलिन नहीं होता

जह मंडू-मरणादो, सायर-णीरं ण दूसिदं होदि।
अण्णाणी-णिंदाए, मलिणो णवि होदि जिणधम्मो॥79॥

अन्वयार्थ—(**जह**) जिस प्रकार (**सायर-णीरं**) समुद्र का सलिल/नीर (**मंडू-मरणादो**) मेंढ़क के मरने से (**दूसिदं ण होदि**) दूषित नहीं होता, उसी प्रकार (**अण्णाणी-णिंदाए**) अज्ञानियों के द्वारा की गई निंदा से (**जिणधम्मो**) जिनधर्म रूपी सागर (**मलिणो णवि होदि**) मलिन नहीं होता॥79॥

गाथार्थ—जिस प्रकार समुद्र का जल मेंढक आदि जीवों के मरण के कारण दूषित नहीं होता, उसी प्रकार जिनधर्म रूपी महान समुद्र अज्ञानियों के द्वारा की गई निंदा से कभी मलिन नहीं होता॥79॥

विशेषार्थ—अहो भव्यात्माओ! धर्म रत्नत्रय स्वरूप है और धर्म कदापि अपवित्रता को प्राप्त नहीं हो सकता। रत्नत्रय से पवित्र इस त्रयलोक में कोई और पदार्थ है ही नही। अशुचि अथवा मलिन चित्त की शुचिता धर्म-शरण में आते ही हो जाती है। जब धर्म सबको शुचि करनेवाला है, पवित्र करनेवाला है, फिर धर्म को कौन मलिन कर सकता है। निंदात्मक शब्दों से धर्म कभी मलिन नहीं होता, क्योंकि शब्द अन्य लोगों के हो सकते हैं और कहने से किसी के किसको मलिनता नहीं दी जा सकती है।

नीति कहती है कि—निंदा करने से किसी को अपवित्र नहीं मानना चाहिये, अपितु निंदक को ही अपवित्र मानना चाहिये। अगर कोई भटका भगवान् जिनधर्म की निंदा कर दे अथवा किसी की शक्तिहीनता के कारण वह धर्म से च्युत हो जाये, तो उस कारण से धर्म मलिन नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में भी धर्म शुचि ही रहेगा, क्योंकि जैसे मेंढ़क आदि जीवों की मृत्यु हो जाने पर समुद्र कभी मलिन नहीं होता वैसे ही किसी अज्ञानी की निंदा से धर्म कभी मलिन नहीं हो जाता है॥79॥

धर्म वैद्य के समान उपकारक

विणा कुलजादि-भेदं, वेज्जो जीवस्स कुणदि उवयारं।
तह धम्म-कुसल-वेज्जो, कुव्वदि जीवस्स उवयारं॥४०॥

अन्वयार्थ—जैसे कोई (**वेज्जो**) वैद्य (**कुलजादि-भेदं विणा**) कुल-जाति के भेद के बिना (**जीवस्स**) रोगस्थ जीव का (**उवयारं**) उपकार/उपचार (**कुणदि**) करता है, (**तह**) वैसे ही (**धम्म-कुसल-वेज्जो**) धर्म रूपी कुशल वैद्य (**जीवस्स**) जन्मादि रोगस्थ जीव का (**उवयारं कुव्वदि**) उपचार/उपकार करता है॥४०॥

गाथार्थ—जैसे कोई कुशल वैद्य कुल जाति के भेद के बिना रोगग्रस्त जीव का उपचार/उपकार करता है, ठीक वैसे ही धर्मरूपी कुशल वैद्य जन्म-जरा और मरण रूपी रोगग्रस्त जीव का उपचार/उपकार करता है॥४०॥

विशेषार्थ—इस सम्पूर्ण भूमंडल में धर्म ही सबसे बड़ा उपकारक है। धर्म कभी किसी का बुरा नहीं करता, अपितु बुरी परिस्थितियों को अच्छा करने के लिये धर्म ही सहायक सिद्ध होता है। धर्म एक कुशल वैद्य की तरह होता है। एक कुशल वैद्य वात, पित्त और कफ के वैषम्य से उत्पन्न रोगी के रोग को शुद्ध-उपचार के द्वारा ठीक कर देता है, वैसे ही धर्म भी मन, वचन और कार्य की विपरीतता से उत्पन्न कर्मरूपी रोगों का उपचार या उपशमन कर देता है।

विशेष बात यह है कि—जैसे वैद्य कुल, जाति, वर्ण, धनवान, धनहीन, इत्यादि भेद न करते हुये कुशल उपचार करता है, रोगों का शमन करता है और रोगी को पूर्ण स्वस्थ कर देता है; ठीक वैसे ही धर्मरूपी वैद्य भी कुल, जाति आदि भेदों को गौण करते हुये भव्य जीवों के जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोगों का शमन करके उन्हें कर्मरहित पूर्णस्वस्थ सिद्ध जीव कर देता है। अतः जिन्हें भी स्वात्मा को स्वस्थ करने की चाह हो, उन्हें धर्मवैद्य के अनुसार जीवन जीना चाहिये॥४०॥

धर्म वायु के समान उपकारक

णवि दिस्सदि जह वाऊ, पुणो वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
धम्म-मग्गो वि एवं, कुव्वदि जीवस्स उवयारं॥81॥

अन्वयार्थ—(**जह**) जैसे (**वाऊ णवि दिस्सदि**) वायु कभी दिखाई नहीं देती (**पुणो वि**) फिर भी (**जीवस्स**) जीव का (**उवयारं कुणदि**) उपकार करती है (**एवं**) ठीक वैसे ही (**धम्म-मग्गो वि**) धर्म का मार्ग भी नहीं दिखता पर (**जीवस्स**) जीव का (**उवयारं कुव्वदि**) उपकार करता है॥81॥

गाथार्थ—धर्म वायु के तुल्य उपकारी है। जैसे वायु कभी दिखती नहीं है फिर भी जीवों का निरन्तर उपकार करती है, ठीक वैसे ही धर्म का मार्ग भी दिखाई नहीं देता, पर जीव का उपकार निरन्तर करता है॥81॥

विशेषार्थ—उपकार करना मानव का कर्तव्य है, मगर उपकार करके उपकार को भूल जाना भी मानव का कर्तव्य है। क्षुद्र प्राणी उपकार करने के पश्चात् जीवन पर्यंत उसे गिनाते रहते हैं, किन्तु भद्र प्राणी ऐसा नहीं करते। वे पर का उपकार करने के पश्चात् उसे भूल जाते हैं। जब कोई उनके प्रति उपकार करता है, तो वे उसे कभी नहीं भूलते। नीतिकार कहते हैं कि—साधु पुरुष दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों को कभी नहीं भूलते हैं।

बात करें अगर हम धर्म की तो धर्म सबसे बड़ा उपकारी है। आज पर्यन्त धर्म की शरण के कारण अनंतानंत जीवों का कल्याण हुआ है, किन्तु धर्म इस उपकार के बदले सम्मान की चाह कभी नहीं रखता। धर्म तो वायु के समान गतिमान रहता है। जैसे वायु कभी दिखाई नहीं देती, फिर भी सभी प्राणियों का उपकार करती है; ठीक वैसे ही धर्म भी कभी दिखाई नहीं देता, मगर भव्यों का उपकार वह निरन्तर करता रहता है। इसलिये कोई कहे कि धर्म दिखता नहीं है उसे कैसे मानें, तो ऐसे अज्ञानियों की बातें कभी न मानें॥81॥

धर्मबीज से मोक्षफल

वर-बीयं खोणीए, ववणे पावेदि वर-फलं जीवो।
णिव्वाण-फलं पावदि, बीयं धम्मस्स आदम्हि॥82॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(खोणीए)** भूमि पर **(वर-बीयं)** उत्तम बीज **(ववणे)** वपन करने पर/बोने पर **(जीवो)** जीव **(वर-फलं पावेदि)** उत्तम-फल को प्राप्त करता है, उसी प्रकार **(आदम्हि)** आत्म-भूमि पर **(धम्मस्स बीयं)** धर्म का उत्तम बीज बोने पर **(णिव्वाण-फलं)** जीव निर्वाण रूपी उत्तम फल को **(पावदि)** प्राप्त करता है॥82॥

गाथार्थ—जिस प्रकार उत्तम-भूमि पर उत्तम बीज के वपन करने पर अर्थात् बोने पर जीव उत्तम-फल को प्राप्त करता है; ठीक उसी प्रकार आत्म-भूमि पर बोया गया रत्न रूपी धर्म का उत्तम-बीज जीव को निर्वाण रूपी उत्तम-फल प्रदान करता है॥82॥

विशेषार्थ—उत्तम फल की प्राप्ति के लिये उत्तम भूमि, उत्तम बीज, उत्तम वातावरण, उत्तम कृषक, उत्तम खाद इत्यादि उत्तम निमित्तों की आवश्यकता पड़ती है। उत्तम भूमि में बोया गया उत्तम बीज ही उत्तम फल को दे पाता है। बंजर भूमि में बोया गया उत्तम बीज व्यर्थ हो जाता है अथवा उत्तम भूमि में बोया गया खराब बीज उत्तम फसल को नहीं दे पाता है।

आत्मा उत्तम भूमि की तरह है, धर्म अर्थात् रत्नत्रय उत्तम बीज की तरह है। जो कुशल साधक आत्मा की उत्तम भूमि में धर्मरूपी रत्नत्रय के उत्तम बीज बोता है, वही उत्तम साधक सर्वोत्तम निर्वाण रूपी फल को प्राप्त कर पाता है। अतः जिन भव्य जीवों को मोक्षफल की आकांक्षा है, उन्हें रत्नत्रय की आराधना में लगे रहना चाहिये।।82।।

जीव का रक्षक धर्म-कवच

संणाहो संरक्खदि, गहणे जुद्धम्हि वीर-मल्लस्स।
तहा धम्म-संणाहो, संसारत्थस्स जीवस्स॥83॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(गहणे जुद्धम्हि)** गहन/भीषण युद्ध में **(संणाहो)** कवच **(वीर-मल्लस्स)** वीर-योद्धा का **(संरक्खदि)** संरक्षण करता है **(तहा)** उसी प्रकार **(धम्म-संणाहो)** धर्म रूपी कवच **(संसारत्थस्स जीवस्स)** संसार में संस्थित जीव का संरक्षण करता है॥83॥

गाथार्थ—जिस प्रकार गहन अर्थात् भीषण युद्ध में वीर-मल्ल का रक्षण कवच करता है, उसी प्रकार इस गहन संसार में संस्थित जीव की रक्षण धर्मरूपी कवच ही करता है॥83॥

विशेषार्थ—चाहे युद्ध कर्मों से हो या शत्रुओं से प्रत्येक योद्धा को अपनी रक्षा के लिये कवच, अस्त्र-शस्त्रादि धारण करना ही चाहिये। स्वदेह रक्षा के बिना कोई भी योद्धा युद्ध नहीं जीत सकता और स्वात्मा की रक्षा के बिना कोई भी जीव कर्म-योद्धाओं से नहीं जीत सकता है। एक कुशल-विवेकी योद्धा भीषण युद्ध में स्व की रक्षा के लिये कवच धारण करके रखता है, ऐसा करने से अकस्मात् होने वाले वारों से वो बच जाता है। वैसे ही एक कुशल-विवेकी-धर्मज्ञ साधक इस गहन संसाररूपी युद्धभूमि में कर्म रूपी योद्धाओं से युद्ध करते समय धर्म का कवच धारण करके रखता है। चाहे कर्मयोद्धा कितने ही बलवान क्यों न हों, पर वे धर्म के कवच को कभी भी भेद नहीं पाते हैं। अतः इस दुःखमय संसार में जीवों का रक्षक अगर कोई है तो वह सत्यार्थ-धर्म ही है॥83॥

धर्म की दृढ़ नसैनी से चढ़ो मोक्षमहल

जह दिढ-सोवाणेहिं, जीवो णिच्चं चडेदि पासादे।
तहेव दिढ-धम्मेहिं, आरूढदि सग्ग-सिव-सोहे॥84॥

अन्वयार्थ—(**जह**) जैसे (**जीवो**) जीव (**दिढ-सोवाणेहिं**) मज़बूत नसैनी आदि के द्वारा (**णिच्चं**) हमेशा (**पासादे चडेदि**) महल में चढ़ता है। (**तहेव**) उसी प्रकार (**दिढ-धम्मेहिं**) दृढ़ धर्म के द्वारा ही (**सग्ग-सिव-सोहे आरूढदि**) स्वर्ग और मोक्ष के महल में चढ़ा जाता है, आरूढ हुआ जाता है।।84।।

गाथार्थ—जिस प्रकार मज़बूत सुदृढ़ सोपान या नसैनी के माध्यम से हमेशा ही महल में चढ़ा जाता है, ठीक उसी प्रकार दृढ़ धर्म के द्वारा ही स्वर्ग और मोक्ष के पहल पर आरूढ़ हुआ जाता है॥84॥

विशेषार्थ—जिस भी मानव को ऊँचे लक्ष्यों को प्राप्त करना है, उसे ऊँचे और अच्छे निमित्तों की प्राप्ति कर लेना चाहिये। उत्तम निमित्तों के अभाव में उत्तम उपादान भी किसी काम का नहीं रह जाता। निमित्तों का प्रभाव और सद्भाव दोनों पर प्राणियों को विचार-विमर्श करते ही रहना चाहिये। धर्म उत्तम निमित्त है और भव्य जीव उत्तम उपादान है। जब भव्यरूपी उपादान को धर्मरूपी उत्तम निमित्त की प्राप्ति होती है, तब कहीं जाकर जीव की सिद्धत्व गमन की यात्रा पूर्ण हो पाती है। जैसे ऊँचे महल तक पहुँचने के लिये मज़बूत, दृढ़ और व्यवस्थित नसैनी आदि की आवश्यकता होती है, ठीक वैसे ही मोक्षमहल तक पहुँचने के लिये अथवा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिये दृढ़ धर्म की नसैनी की आवश्यकता पड़ती है। अतः जिसे भी मोक्ष महल पर आरूढ़ होना हो, उसे धर्म की दृढ़ नसैनी/सोपानों पर चढ़ते जाना चाहिये॥84॥

धर्म बिना सुख नहीं

छत्तं विणा ण छाया, तिसाए पुत्ती कुसं विणा णत्थि।
मेहं विणा ण वुट्ठी, धम्मेण विणा सुहं णत्थि॥85॥

अन्वयार्थ—(**छत्तं विणा ण छाया**) छत्र के बिना छाया नहीं होती है, (**मेहं विणा ण वुट्ठी**) मेघ के बिना वृष्टि अर्थात् वर्षा नहीं होती है, (**तिसाए पुत्ती**) तृषा की पूर्ति (**कुसं विणा णत्थि**) जल के बिना नहीं होती है और (**धम्मेण विणा**) धर्म के बिना (**सुहं**) सुख (**णत्थि**) नहीं प्राप्त होता है॥85॥

गाथार्थ—जैसे छाया छत्र के बिना संभव नहीं है, वृष्टि अर्थात् वर्षा मेघों के बिना संभव नहीं है, तृषा/प्यास की पूर्ति जल के बिना संभव नहीं है; उसी प्रकार सुख की प्राप्ति भी धर्म के बिना संभव नहीं है॥85॥

विशेषार्थ—अज्ञानी प्राणी अधर्म की क्रियाओं में फँसकर धर्म और पुण्य प्राप्ति की कल्पना करता है। वहीं दूसरी ओर ज्ञानीजन धर्म की क्रियाओं में समर्पित रहकर धर्म, पुण्य और सुख की प्राप्ति कर लेता है। पुण्य, सुख और शान्ति के इच्छुक महानुभावों को धर्म का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि जैसे छत्र के बिना छाया कभी नहीं मिलती, मेघों के बिना वर्षा कभी नहीं होती, पानी के बिना प्यास कभी नहीं बुझती; वैसे ही धर्म के बिना सुख-शान्ति कभी नहीं मिलती। धर्माचरण के पश्चात् जो सुख मिलता है वही सत्यार्थ-सुख है, शेष सुख नहीं सुखाभास जानो। अतः सुख-शान्ति का माध्यम धर्म ही है, अन्य नहीं है अन्यथा नहीं है॥85॥

बिना धर्म के मनुज की शोभा नहीं

चारित्त-हीण-समणा, णिद्दंत-णागा णिग्गुणी-तोगा।
छाया-रहिदा रुक्खा, पुप्फाइं गंध-रहिदाइं॥86॥
सिस्स-विहूणा सूरी, णिव्वेग-हया दिट्ठि-रहिद-वदणं।
ससी-विहूणा रयणी, सलिल-विहूणा सरा जह जह॥87॥
इट्ठ-विहूणा इत्थी, जिणबिंब-हीणा-देवट्ठाणाइं।
सोहंति णेव एदे, तहेव धम्मं विणा मणुओ॥88॥

अन्वयार्थ—(**जह जह**) जिस प्रकार (**चारित्त-हीण-समणा**) चारित्र विहीन श्रमण, (**णिद्दंत-णागा**) दंत रहित हस्ति, (**णिग्गुणी-तोगा**) गुण विहीन संतान/पुत्र, (**छायारहिदा रुक्खा**) छायारहित वृक्ष, (**पुप्फाइं गंधरहिदाइं**) सुगंध विहीन पुष्प, (**सिस्स-विहूणा सूरी**) शिष्य रहित आचार्य, (**णिव्वेग-हया**) वेग विहीन घोड़ा, (**दिट्ठि-रहिद-वदणं**) नेत्र रहित मुख, (**ससी-विहूणा रयणी**) चन्द्रमा विहीन रात्रि (**सलिल-विहूणा सरा**) जल रहित सरोवर, (**इट्ठ-विहूणा इत्थी**) पति विहीन स्त्री, (**जिणबिंब-हीणा-देवट्ठाणाइं**) जिनबिंब रहित देवस्थान/जिनालय; (**एदे णेव सोहंति**) ये सभी सुशोभित नहीं होते हैं (**तहेव**) उसी प्रकार (**धम्मं विणा मणुओ**) धर्म रहित/धर्म के बिना मनुष्य भी सुशोभित नहीं होते॥**86-88**॥

गाथार्थ—जिस प्रकार चारित्र से विहीन श्रमण, दांत से हीन हस्ति, गुणों से च्युत संतान/पुत्र, छाया से रहित वृक्ष, मधुर-गंध से रहित पुष्प शोभायमान नहीं होते; जिस प्रकार शिष्य समुदायों से विहीन गुरु/आचार्य, गति अर्थात् वेग से रहित अश्व, नेत्रों से हीन मुख, चन्द्रमा से रहित रजनी/रात्रि, सलिल शून्य सरोवर, पति से शून्य स्त्री और जिनेन्द्र प्रतिमा से शून्य

जिनालय/मंदिर शोभायमान नहीं होते उसी प्रकार मानव पर्याय भी धर्म से रहित होने पर शोभायमान नहीं होती अर्थात् धर्म से युक्त मानव ही शोभनीय है॥८६-८८॥

विशेषार्थ—हर वस्तु की शोभा के लिये कुछ न कुछ गुण या विशेषता की आवश्यकता पड़ती है। भौतिक युग के प्राणियों को स्वयं की सत्यार्थ शोभा का विज्ञान नहीं हैं, क्योंकि आधूनिकता में ही उन्हें शोभा दृश्यमान होती है, जो कि असत्य है। बाहरी चकाचौंध में फंसकर कलियुग के प्राणी स्वयं को दूसरों से अच्छा दिखाने में ही स्वयं को शोभायमान मानता है। बस इसी झूठी कल्पना मैं मानव स्वयं को दानवता की ओर ले जा लेता है।

मनुष्य ही शोभा उसके आचरण, ज्ञान और व्यवहार से होती है, न कि सुंदर कपड़ों या गाड़ी से। सुंदर कपड़े तो दुकानों के बाहर टंगे पुतलों के पास भी मिल जाते हैं, मगर ज्ञान, विज्ञान और आचरण शून्य होने के कारण उनकी कीमत नहीं की जाती। मनुष्य जन्म की सत्यार्थ-शोभा सत्यार्थ-धर्म को धारण करने से ही होती है। धर्म विहीन मानव शोभा विहीन ही माना जाता है।

जैसे चारित्रविहीन साधु-संत शोभा विहीन माने जाते हैं, दांतों से रहित हाथी शोभनीय नहीं होता है, अवगुणी संतान अशोभनीय होती है, छाया रहित वृक्ष की भी कोई शोभा नहीं होती, जैसे सुगंध के बिना पुष्प की शोभा नहीं है, शिष्यों के बिना गुरु की शोभा नहीं है, वेग के बिना घोड़े की शोभा नहीं है; वैसे ही धर्म के बिना मानव की भी कोई शोभा नहीं है।

जिस प्रकार नेत्रविहीन मुख की शोभा नहीं होती, चन्द्रमा से रहित रात्रि की शोभा नहीं होती, पानी से विहीन सरोवर की शोभा नहीं होती, पति विहीन स्त्री की शोभा नहीं रहती, जिन प्रतिमा रहित मंदिर की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार धर्म रहित मनुष्य की भी कोई शोभा नहीं होती, अर्थात् धर्मविहीन प्राणी अशोभनीय है। अतः स्वयं की शोभा बढ़ाने के लिये धर्म की अवधारणा करना ही श्रेयस्कर है॥८६-८८॥

धर्म-युक्त मानव प्रशंसनीय

मंती-सहिदं रज्जं, सील-समिद्धा य गुणजुदा वणिदा।
दाणिल्लो धणवंतो, वीरत्तेहिं जुदो राओ॥89॥
मद-रहिदो विण्णाणी, एवं भत्ती-जुदो वरो सीसो।
णिब्बाहिद-वयणाइं, विज्जत्थी पुण विणयवंतो॥90॥
जह जह पसंसणीयो, ससत्थ-सेण्णो वुट्ठि-जुदो मेहो।
माया-रहिदं मित्तं, धम्म-जुदो माणवो तह-तह॥91॥

अन्वयार्थ—(**जह जह**) जिस प्रकार (**मंती-सहियं रज्जं**) मंत्रियों से युक्त राज्य, (**सील-समिद्धा य गुणजुदा**) शील से समृद्ध और गुणों से युक्त (**वणिदा**) वनिता/नारी, (**दाणिल्लो धणवंतो**) दानादि से संयुक्त धनिक, (**वीरत्तेहिं जुदो राओ**) वीरता, शूरता जादि गुणों से संपृक्त राजा, (**मद-रहिदो विण्णाणी**) मद से विहीन ज्ञानी/विद्वान्, (**भत्तीजुदो वरो सीसो**) भक्ति से संयुक्त श्रेष्ठ शिष्य, (**णिब्बाहिद-वयणाइं**) बाधा रहित अर्थात् निर्बाधित वचन (**पुण**) और (**विज्जत्थी विणयवंतो**) विनय समन्वित विद्यार्थी (**ससत्थ-सेण्णो**) शस्त्र युक्त सेना, (**वुट्ठि-जुदो मेहो**) वृष्टि सहित मेघ (**एवं**) तथा (**मायारहिदं मित्तं**) मायाचारी से विरहित मित्र (**पसंसणीयो**) प्रशंसनीय होता है, (**तह**) ठीक उसी प्रकार (**धम्म-जुदो माणवो तह**) धर्म से युक्त मनुष्य प्रशंसनीय होता है।।89-91।।

गाथार्थ—जिस प्रकार मंत्रियों से युक्त राज्य, शील और ममत्व आदि गुणों से समृद्ध वनिता अर्थात् नारी, दानशील धनवान/श्रेष्ठी, वीरता-शूरता, धीरता, नीतिनिपुणता आदि गुणों से संपृक्त राजा प्रशंसनीय होता है।

जिस प्रकार मद, अहंकार, दर्प से शून्य विद्वान्/ज्ञानी पुरुष, निर्विघ्न भक्ति से युक्त श्रेष्ठ विनेय/शिष्य, बाधा रहित अकाट्य वचन, विनय समन्वित विद्यार्थी, शस्त्रों से समृद्ध सेना, वृष्टि/वर्षा से युक्त मेघ तथा माया परिणति से शून्य मित्र प्रशंसनीय होता है, उसी प्रकार धर्म से ओतप्रोत मानव भी प्रशंसनीय होता है॥**89-91**॥

विशेषार्थ—गुणयुक्त वस्तु ही पूज्यता या फिर उपयोगिता को प्राप्त हो पाती है। गुणहीन की कोई भी कीमत नहीं करता है। आत्मा अनंत गुणों का भंडार है, मगर धर्मरहित होने के कारण आत्मा के स्थित गुण प्रकट नहीं हो पाते हैं और मानव गुणविहीन संज्ञा को प्राप्त हो जाता है।

प्रशंसनीय बनने के लिये कुछ होना और कुछ न होना आवश्यक है। सिद्धान्त की भाषा में कहा जाये तो प्रतिबंधक कारणों का अभाव और सहकारी कारणों का सद्भाव कार्य की सिद्धि या पूर्णता में सहयोगी सिद्ध होता है। धर्म सहकारी कारण है, शिवत्व की सिद्धि में। जीवात्मा के प्रशंसनीय होने में धर्म सबसे मुख्य कारण है। धर्मविहीन धनवान्, ज्ञानवान्, मानवान्, बुद्धिमान् व्यक्ति भी अप्रशंसनीय ही सिद्ध होता है।

जिस प्रकार कुशल और चतुर मंत्रियों से युक्त राज्य ही प्रशंसनीय है, शील और ममत्वादि गुणों से युक्त नारी ही प्रशंसनीय है, दान करनेवाला धनवान् ही प्रशंसनीय है, उसी प्रकार धर्म से संयुक्त मानव ही प्रशंसनीय है।

जिस प्रकार वीरता, शूरता, धीरता, नीतिनिपुणता, समय सूचकता, निष्पक्षता आदि गुणों से समन्वित राजा ही प्रशंसनीय है; मद, अहंकार, अभिमान और दर्पादि अवगुणों से शून्य विद्वान् पुरुष ही प्रशंसनीय है; उसी प्रकार धर्म में लीन जीवात्मा ही प्रशंसनीय है।

जिस प्रकार निर्विघ्न भक्ति से युक्त श्रेष्ठ शिष्य ही प्रशंसनीय है, बाधा रहित कुतर्कादि से नहीं कटनेवाले वचन ही प्रशंसनीय हैं, विनयवान्, आज्ञावान् और कार्य के प्रति समर्पित विद्यार्थी ही प्रशंसनीय है, उसी प्रकार धर्ममय जीवन जीनेवाला पुरुष चिदात्मा ही प्रशंसनीय है।

जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र, राजा और सेनापति से युक्त सेना ही प्रशंसनीय है; स्वच्छ, शीतल और मधुर नीर की वर्षा करनेवाले मेघ ही प्रशंसनीय है; मायाचारी रहित सदा सहायता करनेवाला मित्र ही प्रशंसनीय है, उसी प्रकार धर्म को जीवन में अंगीकार करनेवाला मानव ही प्रशंसनीय है, शेष मानव तो माटी के पुतले के समान गुणहीन और अप्रशंसनीय हैं। ऐसा जानना चाहिये॥**89-91**॥

धर्म के प्रभाव से विपत्ति भी संपत्ति धर्म के अभाव से सब विपरीत

धम्मस्स पहावादो, तिरियो किल होदि इड्ढिवं णागो।
धम्मस्स अभावादो, णागो पुण होदि तिरियो त्ति॥92॥
धम्मस्स पहावादो, पवण-सहा होदि सीद-णाहारो।
काल-विसहरो कालो, झत्ति पुण रयणमयो हारो॥93॥
हलाहल-ममियरूवं, विउलं दुक्खं पि होदि सुहरूवं।
दुट्ठो पुणो खणद्धे, दयाजुदो हिदंकरो होदि॥94॥
देविदं-देव-वग्गो, सासग-वर-माणवो हवदि दासो।
धम्मस्स असब्भावे, सव्वं पुण होदि विवरीदं॥95॥

अन्वयार्थ—(**धम्मस्स पहावादो**) धर्म के प्रभाव से (**किल**) निश्चय से (**तिरियो**) तिर्यञ्च भी (**इड्ढिवं णागो होदि**) ऋद्धिमंत देव हो जाता है, (**पुण**) पुनश्च (**धम्मस्स**) धर्म के (**अभावादो**) अभाव से (**णागो**) देव भी (**तिरियो त्ति होदि**) तिर्यञ्च रूप हो जाता है॥92॥

(**धम्मस्स पहावादो**) धर्म के प्रभाव से (**पवण-सहा सीद-णाहारो होदि**) प्रचण्ड अग्नि भी शीतलहिम हो जाती है (**पुण**) और (**काल-विसहरो कालो**) महाविषैला विषधर सर्प भी (**झत्ति**) सहसा (**रयणमयो हारो**) रत्नमयी हार हो जाता है॥93॥

धर्म के प्रभाव से (**हलाहलं अमियरूवं**) हलाहल विषय अमृत रूप हो जाता है, (**विउलं दुक्खं पि**) विशाल दुःख भी (**सुहरूवं होदि**) सुखरूप हो जाता है (**पुणो**) और (**खणद्धे**) क्षणार्थ में शीघ्रता से (**दुट्ठो**) दुष्टपरिणामी जीव भी (**दयाजुदो हिदंकरो होदि**) दयायुक्त हितकारक हो जाता है॥94॥

धर्म के प्रभाव से **(देविंद-देव-वग्गो)** सौधर्म इन्द्र और देवों का विशाल समूह तथा **(सासग-वर-माणवो)** शासक और श्रेष्ठ मानव भी **(दासो हवदि)** दास हो जाता है **(पुण)** और **(धम्मस्स असब्भावे)** धर्म के असद्भाव से अर्थात् अभाव से **(सव्वं विवरीदं होदि)** उपर्युक्त सम्पूर्ण बातें विपरीत हो जाती हैं अर्थात् शीतल हिम भी अग्नि हो जाती है॥95॥

गाथार्थ—निश्चय ही धर्म के प्रभाव से तिर्यञ्च भी महान् ऋद्धिसंपन्न देव हो जाता है, पुनश्च धर्म के अभाव होने पर ऋद्धिसंपन्न देव भी तिर्यञ्च रूप को प्राप्त हो जाता है॥92॥

धर्म के ही प्रभाव से प्रचण्ड अग्नि भी शीतलहिमकण हो जाती है और महाविशाक्त विषधर (सर्प) भी रत्नमयी नवलक्खा हार हो जाता है॥93॥

धर्म के प्रभाव से हलाहल विष भी अमृत के सादृश्यपने को प्राप्त हो जाता है, विपुल दुःख भी सुखरूप हो जाता है और क्षण भर में दुष्ट परिणामी जीव भी दयायुक्त हितंकर हो जाता है॥94॥

धर्म के प्रभाव से सौधर्म इन्द्र, देवों का विशाल समूह, बड़े-बड़े शासक और उत्तम मनुष्य भी धर्मात्मा के दास बन जाते हैं। धर्म के अभाव के कारण सारे कार्य विपरीत हो जाते हैं अर्थात् शीतलहिम अग्नि हो जाती है, रत्नहार सर्प बन जाता है, अमृत विषरूप हो जाता है, सुख दुःखरूप हो जाता है, हितकारी भी अदयायुक्त हो जाता है, अथवा श्रेष्ठ मानव, शासक, देवों का समूह भी शोषण करनेवाला हो जाता है॥95॥

विशेषार्थ—धर्म के प्रभाव से जीवों में पुण्यप्रकृतियों का संचय होता है और पुण्य-प्रकृतियों के उदय के कारण प्राणियों के सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि पुरुषार्थ भी पुण्य के संचय का साधन है, मगर जब पुरुषार्थ में धर्म का रंग मिल जाता है तो सातिशय-पुण्य का संचय प्रतिक्षण प्रारंभ होता रहता है।

वहीं दूसरी ओर धर्म के अभाव में धर्म विहीन प्राणियों के लिये पाप-

प्रकृतियों का संग्रह होता है। ये पापप्रकृतियाँ प्राणियों के दुःख, कष्ट, पीड़ादि का साधन बन जाती हैं। जिस कर्मोदय का जोर चलता है, जीव की परिणति और प्रकृति भी तद्रूप होती जाती है।

प्रायः करके संसार में देखा भी जाता है कि—धर्म के प्रभाव से बड़ी से बड़ी विपत्ति भी सम्पत्ति रूप में परिवर्तित हो जाती है और धर्म के अभाव में संपत्ति भी विपत्ति रूप परिणत होती दिखाई देती है। जो भी जितने भी शुभकर्मोदय दिखते हैं, वे सब धर्म के माध्यम से ही दिखाई दे रहे हैं।

धर्म के प्रभाव से सम्यग्दर्शनादि की आराधना से ही एक सामान्य पशु या पक्षी महा-महा ऋषियों से सम्पन्न देव हो जाता है। यथा—जटायु, सिंहादि प्राणी। धर्म का अभाव होने पर ही ऋद्धि संपन्न देव-देवी भी कुत्सित दुःखमय पशु-पक्षी रूप पर्याय को प्राप्त हो जाता है।

सत्यार्थ धर्म के ही प्रभाव से प्रचण्ड प्रज्वलित प्राणघातक अग्नि भी शीतल हिमकण हो जाती है और महाविषैला भुजंग भी रत्नमयी दिव्य बहुमूल्य सुंदर हार हो जाता है।

समीचीन धर्म के ही प्रभाव के कारण प्राणघातक विष भी प्राणप्रियामृत हो जाता है, धर्म के प्रभाव से ही बड़े से बड़े दुःख भी सुखफल देनेवाले हो जाते हैं तथा निर्मल धर्म के ही प्रभाव से दुष्ट-क्रूर परिणामी प्राणी क्षणार्ध में दयायुक्त हितकारी हो जाते हैं।

धर्म का ही माहात्म्य है कि—सौधर्म इन्द्र, देवों का विशाल समूह, सर्वगुण युक्त शासक अर्थात् राजा और धनवान् कलासम्पन्न मनुष्य भी धर्मात्मा जीवों के दास बन जाते हैं। लेकिन धर्म का अभाव होने पर सारे कार्य विपरीत हो जाते हैं। अमृत विष हो जाता है, सुख दुःखरूप हो जाता है, रत्नमयी हार भी विषासक्त सर्प हो जाता है अथवा हितकारी मित्र भी शत्रु हो जाता है। अतः धर्म की प्रवृत्ति में चित्त ले जाना चाहिये, धर्म ही जीवों की सच्ची शरण है॥**92-95**॥

धर्म के बिना सब दुर्भाग्य

धम्मेण विणा णत्थि, चारित्तं तेण रिदे ण सोभग्गं।
भग्गं विणा ण सोक्खं, तेण विणा सव्व-दुब्भग्गं॥96॥

अन्वयार्थ—(**धम्मेण विणा चारित्तं णत्थि**) धर्म के बिना चारित्र नहीं हो सकता, (**तेण रिदे**) उसके अर्थात् चारित्र के बिना (**सोभग्गं ण**) सौभाग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, (**भग्गं विणा सोक्खं ण**) सौभाग्य/पुण्य के बिना सुख नहीं मिलता और (**तेण विणा**) पुण्य/सौभाग्य के बिना (**सव्व-दुब्भग्गं**) सब कुछ दुर्भाग्यमय ही है॥96॥

गाथार्थ—धर्म के बिना चारित्र की लब्धि नहीं होती, चारित्र के बिना सौभाग्य अर्थात् पुण्य की लब्धि नहीं होती, सौभाग्य अर्थात् पुण्य के बिना सुख की लब्धि नहीं होती और सौभाग्य अर्थात् पुण्य के बिना सब कुछ दुर्भाग्यरूप है॥96॥

विशेषार्थ—कारण-कार्य व्यवस्था को समझना प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक है। सौभाग्य की चाह हर कोई रखता है, मगर सौभाग्य के लिये पुरुषार्थ करना भूल जाता है। सौभाग्य की चाह रखनेवालों को धर्म की चाह भी करना चाहिये, क्योंकि बिना धर्म के सौभाग्य की प्राप्ति असंभव ही है। भव्यात्माओं को हमेशा ही चिंतन करना चाहिये कि—धर्म से ही चारित्र की उपलब्धि होती है और चारित्र की उपलब्धि होने पर ही पुण्य की लब्धि हो पाती है तथा पुण्य के प्राप्त होने पर ही सुख और सौभाग्य की प्राप्ति हो पाती है। कुल मिलाकर धर्म से चारित्र, चारित्र से पुण्य और पुण्य से सौभाग्य मिलता है, अतः ज्ञानी लोगों को ऐसा जानकर धर्म का पालन करना चाहिये, क्योंकि धर्म है तो सौभाग्य है और धर्म नहीं तो सब दुर्भाग्य ही है॥96॥

आज तक जो नहीं किया, वही धर्म

जं जं ण किदं अज्जं, किच्चं तं तं खु जाण धम्मं तं।
जं जं किदं तमज्जं, दुहमूलं तहवि दुद्धम्मं॥97॥

अन्वयार्थ—(**जं जं किच्चं**) जो जो कृत्य (**अज्जं ण किदं**) आज तक नहीं किया (**तं तं खु**) उस उस कृत्य को ही (**तं जाण धम्मं**) हे जीव! तुम धर्म जानो। (**जं जं**) जो जो कृत्य (**अज्जं किदं**) आज तक किया (**तं**) वो वो कृत्य (**दुहमूलं**) दुःखों का मूल (**तहवि युद्धम्मं**) तथा दुर्धर्म/कुधर्म है॥97॥

गाथार्थ—जो जो कृत्य आज तक किये हैं, वो वो कृत्य अर्थात् कार्य दुःखों की जड़स्वरूप हैं एवं कुधर्म हैं। जो जो कृत्य अर्थात् कार्य आज तक किये हैं, उन उन कृत्य अर्थात् कार्यों को हे जीव! तुम धर्म जानो॥97॥

विशेषार्थ—धर्म की कई परिभाषायें हमने पढ़ी हैं, समझी हैं, मगर हर समीचीन तत्त्व चिंतक अपनी नई परिभाषा के द्वारा हमें सत्यार्थ धर्म तक पहुँचाने का प्रयास करता है। धर्म से अनभिज्ञ प्राणी संसार में भ्रमण करता है। अनादि संसारभ्रमण का मुख्य कारण यही रहा कि—प्राणियों ने उसे ही जिया जिसे नहीं करना चाहिये था और उसे नहीं किया जिसे करना चाहिये था। जो जो भाव आज तक नहीं किये हैं, उन्हें करना है और जो जो आज तक किये हैं उन्हें नहीं करना है। धर्म को समझें—जो जो कृत्य आज तक आपने नहीं किये हैं, उन-उन कृत्य को करना ही धर्म है और जो-जो कृत्य आज तक आपने किये हैं, उन-उन कृत्यों को नहीं करना धर्म है। ऐसा इसलिये कह रहे हैं, क्योंकि जीव ने अगर पूर्व में धर्ममय कृत्य किये होते तो अभी तक मोक्ष प्राप्त कर लिया होता। अतः धर्ममय कृत्यों को करें जो नहीं किये आज तक॥97॥

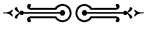

व्यवहारधर्म आधार है

विणा ववहारधम्मं, णिच्छयधम्मस्स णत्थि सब्भावो।
तदो तस्स लद्धीए, ववहारो चेव आधारो॥९४॥

अन्वयार्थ—(**ववहारधम्मं विणा**) व्यवहार धर्म के बिना (**णिच्छय-धम्मस्स सब्भावो णत्थि**) निश्चय-धर्म का सद्भाव नहीं है; (**तदो**) इसलिये (**तस्स लद्धीए**) निश्चय-धर्म की उपलब्धि में (**ववहारो चेव**) व्यवहार धर्म ही (**आधारो**) आधार है॥९४॥

गाथार्थ—व्यवहार धर्म अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के अभाव में निश्चय धर्म अर्थात् निश्चय रत्नत्रय का सद्भाव नहीं होता, इसलिये निश्चय धर्म/रत्नत्रय की समुपलब्धि के लिये व्यवहार धर्म/रत्नत्रय ही आधार है॥९४॥

विशेषार्थ—व्यवहार और निश्चय नय में संतुलन बनाना आवश्यक है। व्यवहार नय मात्र के आश्रय से कल्याण नहीं होगा और न ही निश्चयनय के एकान्त से कल्याण होगा। समयानुसार ही नय का आश्रय लेना ही योग्य है। इसी प्रकार नय की ही तरह धर्माचरण में भी व्यवहार-निश्चय धर्म का पालन करना चाहिये। व्यवहार धर्म का आश्रय लेकर निश्चय धर्म तक पहुँचना चाहिये। रत्नत्रय धर्म व्यवहार-धर्म है और रत्नत्रय धर्म में लीनता निश्चल अवस्था निश्चय-धर्म है। व्यवहार धर्म के बिना निश्चय-धर्म का सद्भाव असंभव है, इसलिये निश्चय-धर्म की लब्धि में व्यवहार धर्म आधारभूत स्वीकारना चाहिये। अतः निश्चय-धर्म के राग में व्यवहार-धर्म को हेय नहीं मानना चाहिये, व्यवहार-धर्म के माध्यम से ही निश्चय-धर्म की उपलब्धि होती है॥९४॥

जैसा रुचे वैसा करें

किं बहुणा जंपेमि य, धम्मो खलु मणुव-जम्मसारो त्ति।
तेण विणा जम्म विहा, जं रुच्चे तं हि कुव्विज्जा॥99॥

अन्वयार्थ—**(किं बहुणा जंपेमि)** बहुत कहने से क्या लाभ है, **(धम्मो खलु)** एक धर्म ही **(मणुव-जम्मसारो त्ति)** मानव जन्म का सार है; इतना समझ लेना चाहिये **(य)** और **(तेण विणा)** उस धर्म के बिना **(जम्म विहा)** मनुष्य जन्म वृथा है, व्यर्थ है। **(जं रुच्चे)** अब आपको जो रुचे **(तं हि कुव्विज्जा)** वही करें।।99।।

गाथार्थ—बहुत ज्यादा क्या कहूँ बस इतना समझ लेना चाहिये एकमात्र रत्नत्रय धर्म ही मनुष्य जन्म का सार है। उस धर्म अर्थात् रत्नत्रय के बिना यह मनुष्य जन्म निरर्थक है, व्यर्थ है; अब आपको जो रुचे वो करें (जो अच्छा लगे वो करें)॥99॥

विशेषार्थ—रत्नत्रय के बिना जीव का जीवन केले के वृक्ष की तरह निस्सार है। जिसने भी इस रत्नत्रय धर्म को अंगीकार किया उसका निश्चित ही बेड़ा-पार हुआ है। जिस जीव की भवितव्यता मंगल होती है उस जीव को धर्म के निमित्त सहज ही समुपलब्ध हो जाते हैं और जिसका उपादान कमज़ोर होता है उसके लिये धर्म का निमित्त कुछ नहीं कर पाता है। पूर्वोक्त 98 गाथों के माध्यम से धर्माख्यान बहुत कर दिया है, अब चिंतन-मनन-अनुसरण की बारी है। कहा गया है—बहुत अधिक कहने से क्या लाभ है। मनुष्य जन्म का सार एकमात्र धर्म को अंगीकार करने में ही है, धर्म के बिना जीवन निस्सार है, अब ऐसा जानकर हे भव्यजीवो! तुम्हें जैसा रुचे वैसा करो॥99॥

आत्मधर्म ही संसारोच्छेदक

जण-रट्ठ-रज्ज-धम्मा, सव्वे संसार-वड्ढणं कुणिरे।
णियमेण आद-धम्मो, संसारुच्छेदणं कुणदि॥100॥

अन्वयार्थ—(**सव्वे जण-रट्ठ-रज्ज-धम्मा**) राज्यधर्म राष्ट्रधर्म, समाजधर्म इत्यादि सम्पूर्ण व्यवहारधर्म (**संसार-वड्ढणं**) संसार का वर्धन (**कुणिरे**) करते हैं, (**णियमेण**) नियम से (**आद-धम्मो**) केवल आत्मधर्म ही (**संसार-उच्छेदणं**) संसार का उच्छेद (**कुणदि**) करता है॥100॥

गाथार्थ—राज्यधर्म, राष्ट्रधर्म, जनधर्म (समाजधर्म) इत्यादि और जो कोई भी व्यावहारिक धर्म हैं वे सब के सब संसार का विस्तार/संवर्धन करने वाले हैं, एकमात्र आत्मधर्म ही है जो नियम से संसार का विनाश/उच्छेद करनेवाला है॥100॥

विशेषार्थ—भव्यात्मा उसी का आश्रय लेता है, उसी का आचरण करता है, जिससे संसार का; दुःखों का, पाप का, छेदन-भेदन होता है। जिससे संसार का वर्धन और धर्म का छेदन-भेदन हो, ज्ञानी विवेकी जीव उसका आश्रय शीघ्रातिशीघ्र छोड़ देता है। लौकिक धर्म और व्यावहारिक धर्म से संसार का नाशक भी नहीं हो सकता, ये तो संसार को बढ़ाने का ही निमित्त बनते हैं। राष्ट्रधर्म, राज्यधर्म अथवा समाजधर्म अथवा अन्य भी व्यावहारिक धर्म निश्चय से संसार का अभिवर्धन करनेवाले होते हैं। इन सबसे पृथक्, अलौकिक आत्मधर्म ही संसारोच्छेद का माध्यम है। ऐसा जानकर भव्य जीवों को राष्ट्रादि व्यावहारिक धर्मों से स्वयं को दूर करके आत्मधर्म में लीन हो जाना चाहिये। आत्मधर्म ही उपादेय है उसे स्वीकारना चाहिये, शेष लौकिक धर्म हेय हैं, उन्हें छोड़ते जाना चाहिये॥100॥

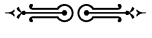

धर्म से नहीं, डरो कर्म से

कम्मादो बीहेज्जा, धम्मादो णेव णत्थि बीहेज्जा।
कम्मं णिच्चं राडदि, धम्मो णिच्चं हु रक्खेदि॥101॥

अन्वयार्थ—(**कम्मादो बीहेज्जा**) हे जीव! कर्मों से सदा ही डरो, परन्तु (**धम्मादो णेव णत्थि बीजेज्जा**) धर्म से कभी भी, किंचिद् भी नहीं डरो। (**कम्मं णिच्चं राडदि**) कर्म नित्य ही रुलाता है, लेकिन (**धम्मो णिच्चं हु रक्खेदि**) धर्म नित्य ही रक्षा करता है।।101।।

गाथार्थ—हे भव्यात्म! तुम कर्मरूपी शत्रु से सदैव डरो, परन्तु धर्मरूपी मित्र से कभी भी नहीं डरो। कारण कि कर्म तुम्हें नित्य ही रुलाता है, पीड़ित करता है, दुःखी करता है; वहीं धर्म निरन्तर ही तुम्हारी रक्षा करता है, पालन-पोषण करता है॥101॥

विशेषार्थ—धर्म जीवों की हमेशा रक्षा करता है, जीवों को बचाता है, मगर कर्म जीवों को हमेशा रुलाता है, उनकी भर्त्सना करता है। धर्म जीवों का सच्चा मित्र है, वह जीव का साथ कभी नहीं छोड़ता, किन्तु कर्म जीवों का अनादि से दुःख पहुँचानेवाला शत्रु है। जिन-जिन जीवों को स्वकल्याण की भावना है, उन उन जीवों को धर्म का आश्रय लेना चाहिये, धर्म से डरकर भागना नहीं चाहिये और धर्माचरण कठिन है; ऐसा सोचकर उससे दूर भी नहीं होना चाहिये।

हे भव्यात्मन् ! तुम हमेशा कर्मों से डरो और बचो, मगर धर्म रूपी सखा से डरो मत उसके साथ सम्पूर्ण जीवन जियो। कर्म की प्रकृति पीड़ा देने की ही है और धर्म की प्रकृति रक्षा करने की ही है। अतः धर्म की शरणा गहो, कर्मों का साथ छोड़ दूर चलो॥101॥

धर्म-पथ

सावगा होह समणो, समणो होदूण होह अरिहंतो।
सो होदूणं सिद्धो, एस खलु धम्म-पहो णेयो॥102॥

अन्वयार्थ—**(सावगा समणो होह)** श्रावक से श्रमण बनो, **(समणो होदूण)** पुनश्च श्रमण बनकर **(अरिहंतो होह)** अरिहंत बनो, **(सो होदूणं)** फिर अरिहंत बनकर **(सिद्धो)** सिद्ध बनो; **(एसो खलु)** ऐसा ही **(धम्म-पहो णेयो)** धर्म का पथ समझना चाहिये॥102॥

गाथार्थ—सर्वप्रथम श्रावक पद से श्रमणत्व को प्राप्त करो, अनन्तर श्रमणपद को प्राप्त करके अरिहंत/केवली पद को प्राप्त करो और अंत में केवली/अरिहंत पद से प्राप्त होनेवाले सिद्धपद को प्राप्त करो। हे जीव! धर्म का पथ (धर्ममार्ग) ऐसा ही है तुम इसे निश्चय कर समझो॥102॥

विशेषार्थ—धर्म का पथ अत्यन्त सरल और सहज है। इस पथ में यद्यपि कंकड़ काँटे आदि बहुत हैं, किन्तु जो वैराग्य का आश्रय लेकर इस मार्ग में गमन करते हैं, उन्हें पथ में उपस्थित पीड़ा या कष्टों का अनुभवन नहीं होता। धर्म का पथ क्रम-क्रम से भी प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक मुमुक्षु को सर्वप्रथम सच्चा श्रावक बनना चाहिये। श्रावक बनकर श्रमण चर्या का अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास हो जाने पर श्रमणचर्या को स्वीकार करके सच्चा श्रमण बनना चाहिये। श्रमणत्व प्राप्त करके भव्यवरपुंडरीक को ध्यान का आश्रय लेना चाहिये, तपस्यादि में संलग्न रहना चाहिये और इसके पश्चात् स्व-श्रमणत्व में लवलीन होकर अरहंत पद की उपलब्धि करना चाहिये। अरहंत पद प्राप्त आत्मा स्वयोग्य काल में ही सिद्धत्व को उपलब्ध कर लेती है। अतः श्रावकत्व से सिद्धत्व की प्राप्ति यही धर्म का सत्यार्थ पथ है॥102॥

धर्म का प्रसाद

धम्मेणं दुट्ठाणं, णस्संते दुट्ठ-कज्ज-कम्माणि।
रागी हवेदि चागी, चागी होहदि विगदरागी॥103॥

अन्वयार्थ—(**धम्मेणं**) धर्म के प्रसाद से (**दुट्ठाणं**) दुष्टों के, पापियों के (**दुट्ठ-कज्ज-कम्माणि**) सम्पूर्ण दुष्टकृत्य/अशुभकार्य और दुष्टकर्म अथवा अशुभ कर्म (**णस्संते**) विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। और धर्म के ही प्रसाद से (**रागी चागी हवेदि**) रागी जीव त्यागी अथवा वैरागी हो जाता है तथा (**चागी विगदरागी होहदि**) त्यागी अथवा वैरागी, विगतरागी/वीतरागी हो जाता है॥**103**॥

गाथार्थ—धर्म के मंगल प्रसाद से अर्थात् धर्म के फलस्वरूप दुष्टजनों के, पापात्मा के पूर्वकृत सम्पूर्ण दुष्टकृत्य, दुष्टकर्म विनष्ट हो जाते हैं। उसी धर्म के प्रसाद से/प्रभाव से रागयुक्तात्मा वैरागमयात्मा हो जाता है तथा वैराग-युक्तात्मा वीतरागात्मा हो जाता है।।103।।

विशेषार्थ—धर्म की महिमा अपरंपार है। जिन-जिन भव्यात्माओं ने धर्माश्रय प्राप्त किया उन-उन भव्यधर्मात्माओं का संसार और कर्म का छेदन क्षण मात्र में हुआ है। धर्म के महत्त्व से ही पापप्रकृति युक्त जीवों के सकलविध दुष्कृत्य, पापबंध, अशुभास्रव, दुष्टपरिणति आदि विनष्ट हो जाती है और वह पापयुक्त आत्मा धर्मात्मा हो जाता है। धर्मात्मा होकर वह पापी-आत्मा त्यागी-आत्मा हो जाती है अर्थात् रागी-आत्मा त्यागी हो जाती है और निरंतर धर्म-पुरुषार्थ में लीन होने के कारण त्यागी-आत्मा वीतरागी-आत्मा बन जाती है। अतः धर्म का प्रसाद अथवा महत्त्व अथवा महिमा अकथनीय है॥**103**॥

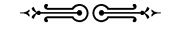

धर्म सदा हृदय में विद्यमान रहे

जं धम्मं णर-गणहर-सदिंद-चक्कवट्टी णमस्संति।
सो जिणवर-वरधम्मो, मे चित्ते विज्जदे णिच्चं॥104॥

अन्वयार्थ—(**जं धम्मं**) जिस धर्म को (**णर-गणहर**) मानव, गणधर (**सद-इंद-चक्कवट्टी**) चक्रवर्ती और सौ इन्द्र भी (**णमस्संति**) नमस्कार करते हैं (**सो**) वह (**जिणवर-वरधम्मो**) जिनवर का श्रेष्ठ धर्म (**णिच्चं**) नित्य ही (**मे चित्ते**) मेरे चित्त में (**विज्जदे**) विद्यमान रहे॥104॥

गाथार्थ—जिस धर्म को उत्तम मानव, गणधर परमेष्ठी, मानवेन्द्र चक्रवर्ती और शतेन्द्र (सौ इन्द्र) नमस्कार करते हैं, वह जिनेन्द्र भगवान् का उत्तम धर्म नितप्रति मेरे हृदय प्रासाद में अवस्थित रहे, विद्यमान रहे॥104॥

विशेषार्थ—उपसंहार में धर्म की विद्यमानता सदा हमारे चित्त में बनी रहे, ऐसी भावना भा रहे हैं। जिनवर कथित धर्म सभी धर्मों में प्रधान और महान् है। यह जिनवर भावित धर्म सर्वमान्य जनों से वंदित और सेवित भी है। महान् लोग जिसे स्वीकार कर लेते हैं, वह वस्तु स्वतः प्रामाणित हो जाती है। जिनवर कथित इस सनातन जैन धर्म को उत्तमकुलोत्पन्न मानव, सर्व ऋद्धि संपन्न महामनीषी श्रमण, चक्रवर्ती तथा सौ-सौ इन्द भी नमस्कार करते हैं। ऐसा यह जिनवरभाषित श्रेष्ठतम धर्म सदा मेरे, हमारे, सबके मन में विद्यमान रहे, क्योंकि धर्म के विद्यमान रहने पर जीव की कोई दुर्गति नहीं कर सकता, जीव को कोई पीड़ित या दुःखी नहीं कर सकता। अतः धर्म का सद्भावना हमारे अंतरंग में सदा बनी रहे। यही सर्वोत्तम-भावना है॥104॥

धर्मशतक/धर्ममकरंद ग्रंथ को पढ़ने का फल

सड्ढाए पीदीए, जो जो पिज्जेदि धम्ममयरंदं।
आदिच्च इव सो लहदि, आदिच्चं केवलं णाणं॥105॥

अन्वयार्थ—(**जो जो**) जो जो भव्यजीव (**सड्ढाए**) श्रद्धान पूर्वक (**पीदीए**) प्रीतिपूर्वक (**धम्ममयरंदं**) इस धर्ममकरंद को (**पिज्जेदि**) पीता है; (**सो**) वह जीव (**आदिच्च इव**) आदित्य अर्थात् सूर्य के समान प्रकाश्यमान (**आदिच्चं केवलं णाणं**) कैवल्य ज्ञानसूर्य को (**लहदि**) प्राप्त करता है॥105॥

गाथार्थ—जो भव्य जीव श्रद्धानपूर्वक, प्रतीति पूर्वक, प्रीतिपूर्वक इस धर्मरूपी मकरंदं (पराग) का पान करता है अर्थात् धर्मशतक नामक इस ग्रन्थ का पाठ करता है इसका स्वाध्याय करता है, इसे कण्ठस्थ करता है, वह जीव आदित्य के सदृश प्रकाश्यमान अर्थात् सूर्य के समान प्रदीप्त अविनाशी कैवल्यसूर्य कैवल्यज्ञान को प्राप्त करता है॥105॥

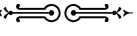

पसत्थी

कलिकालसव्वण्हु–अज्झप्प-पहाण-पुरोहा-पाइय-अज्ज-कवि-कुंदकुंदपरंपराए महाणिमित्तण्हू, अट्ठारस-भासाविदू, तित्थभत्त-सिरोमणी, जिणसासण-पहावगो, णायादि-विज्जापवीणो, आइरिय-आदिसायरस्स पट्टसिस्सो आइरिय-महावीरकित्ती जादो।

तस्स सिस्सो णिमित्तणादा, सम्मग्ग-आदिच्चो, वच्छल्ल-रयणायरो, गुणण्णवो, सगपरोवयारी, सव्वण्हु-सासण-पगासगो आइरिय-विमलसायरो जादो।

तस्स सिस्सो सम्म-साहगो, ससिव्व सीयलो, सायरमिव गंभीरो, विसाल-संघ-हिदय-धारगो, वच्छल्ल-णिज्झरो सिद्धंत-चक्कवट्टी, गणाइरिय-विरागसायरो जादो।

इमाए गउरवसंपण्ण-विसालपरंपराए विसोहि-विमल-वारिही, आदिच्चो व्व पसिद्धो, सुद-संवड्ढगो, देसण-पवीणो, सयल-सग-पर-समय-णादा, कुंदकुंदण्णए धुवतारगो, अप्प-अवगाहण-जुदो-बहुसुदण्हू, पण्णापुंजाहिव-सिस्स-सामी, सामण्ण-बिंबो, ललियदेह-समिद्धो, णमोत्थुसासण-उज्जोदगो, छंद-वागरण-णाय-अलंकार-तक्क-अज्झप्प-णीदि-सिद्धंतादि-विज्जा-पवीणो एवं संसिद्धिसुह-साहणभूद-अखण्डविज्जा-णिव्वाणादिक्खपदाया य तच्चणाण-कारणभूद-खण्डविज्जा-पदाया मे गुरू समणाइरिय-विसुद्धसायरो जादो। तस्स लहुसिस्स-सुदसंवेगी-सुदसुणु-आदिच्च-सायरेणं अयं गंथो लिहिदं।

पसंतमुत्ति-सहिण्णु-समणरयण-सहजसायरस्स पेरणाए पंचाहि-

गसय-गाहापमाणं अस्स गंथस्स मंगलारंभो चेइयमासे, सुक्क-पक्खे, तयोदसी-तिहीए, महा-णक्खत्ते, सूल-जोगे, गुरुवार-वासरे वीरवड्ढमाण-जम्मकल्लाणगे आदिणाह-दियंबर-जिणालए, बेंगलू-रणयरत्थ-जयणयरे, कण्णाडग-पएसे जादो।

सज्झाय-संवड्ढग-गुरुवराइरिय विसुद्धसायरस्स एगारहम-आइरियपदारोहण-महोस्सवे आरंभिदो विउल-विसय-अप्पकाय-जुत्तो अयं गंथो अप्पसमए इक्कारस-दिणेसुं मुणिसुव्वयणाह-णाणकल्लाणग-दिवसे, वेसाहमासे, किण्हपक्खे, णवमी-तिहीए, उत्तरासाढ-णक्खत्ते, सिद्धजोए, सोमवार-वासरे, सीयलणाह-दियंबर-जिणालए, बेंगलूरणयरत्थ-जयप्पयासणयरे पुट्टेणहल्लिगामे, कण्णाडग-पएसे पादोकाले समंगल-साणंदेहिं संपुण्णो त्ति।

संसारगहणतिमिरण्णे विसण-विसहरत्तो, पावणागत्तो, कसायभीलत्तो, संकिलेस-कंटगत्तो, मिच्छत्त-अव्वद-विसत्त-फलत्तो, भवियवर-पुंडरीग-जीवाणं रक्खगो अयं धम्मगंथो सदा जयदु।

पसूण-मयरंदेणं, तुट्ठेदि दिव्व-चंचरी।
सद्धम्म-मयरंदेणं, तुट्ठेदि भव्व-चंचरी॥1॥
आदिच्चेणं किदे गंथे, दोसो किंचिवि दिस्सदि।
सुद्धदिट्ठीदु सोधंतु, सुद-समिद्ध-साहवो॥2॥
णमस्सामि णमस्सामि, णमस्सामि सया सया।
जिणिंदस्स जिणिंदस्स, जिणिंदस्स सुसासणं॥3॥
जयउ समणो चंचू, साहगो भावतारगो।
पायच्छित्ते पवीणो य, धम्मगंथस्स देसगो॥4॥
अज्झप्पजोइ-गंभीरो, सारस्सदो गुरू वरो।
समंतभद्द-संवेगी, सूरिविसुद्ध-सायरो॥5॥

॥ इदि-अलं ॥

प्रशस्ति

कलिकालसर्वज्ञ, अध्यात्मविद्या के प्रधान पुरोधा, प्राकृत के आद्य कवि श्रीमद्देव कुन्दकुन्दस्वामी की परंपरा में महानिमित्तज्ञानी, अट्ठारह (18) भाषा-विद्, तीर्थभक्त शिरोमणि, न्यायादि विद्याओं में प्रवीण, जिनशासन की प्रभावना करनेवाले आचार्य आदिसागर के पट्ट शिष्य आचार्य महावीर कीर्ति जी हुये।

उनके शिष्य, निमित्तज्ञ, सन्मार्ग-दिवाकर, गुण-वारिधि, वात्सल्य-रत्नाकर, स्वपरोपकारी, सर्वज्ञशासन को प्रकाशित करनेवाले आचार्य विमलसागर जी हुये।

उनके शिष्य सम्यक्साधक, शशिवत् शीतल, सागर के समान गंभीर, विशाल संघ और हृदय के स्वामी, वात्सल्य के निर्झर स्वरूप, सिद्धांत-चक्रवर्ती, गणाचार्य विरागसागर जी हुये।

इस ही गौरवशाली सुविस्तृत परंपरा में विमल-विशुद्धि के समुद्र, सूर्यवत् सुप्रसिद्ध, श्रुत का संवर्धन करनेवाले, देशना में प्रवीण, सम्पूर्ण स्वसमय और परसमय के ज्ञाता, कुन्दकुन्दान्वय के ध्रुवतारे, अल्पकद और बहुत विपुल/अनल्प श्रुत के ज्ञाता; प्रज्ञावंत शिष्यों के स्वामी, समता की प्रतिमूर्ति, सुन्दर देह के धारी, नमोस्तु शासन के उद्योतक, छंद-व्याकरण-अलंकार-तर्क-न्याय-नीति-अध्यात्म-सिद्धान्त आदि विद्याओं में प्रवीण एवं निर्वाण सुख के साधनभूत अखण्ड विद्या/निर्वाणदीक्षा के प्रदाता तथा तत्त्वज्ञान में कारणभूत खण्ड-विद्या के प्रदाता मेरे गुरु श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी हुये। उन आचार्य विशुद्धसागर जी के लघुशिष्य, श्रुतसंवेगी, श्रुतपुत्र श्रमण आदित्यसागर के द्वारा यह ग्रंथ लिखा गया है।

प्रशान्तमूर्ति, सहिष्णु, श्रमणरत्न सहजसागर जी की प्रेरणा से 105 गाथा प्रमाण इस धर्मग्रन्थ का मंगल-शुभारंभ चैत्यमास, शुक्लपक्ष, त्रयोदशी तिथि, मघानक्षत्र, शूलयोग, गुरुवार में, महावीर जयंती में, आदिनाथ दिगंबर जैन मंदिर, जयनगर, बैंगलूरनगर, कर्नाटक प्रदेश में किया।

स्वाध्यायसंवर्धक गुरुवर आचार्यविशुद्धसागर जी के ग्यारहवें (11वें) आचार्य पदारोहण महोत्सव में आरंभ किया गया अल्पकाय और विपुलविषययुक्त यह ग्रन्थ अल्पसमय ग्यारह (11) दिनों में, मुनिसुव्रतनाथ प्रभु के ज्ञानकल्याणक दिवस, वैशाख मास, कृष्णपक्ष, नवमी तिथि, उत्तराषाढ-नक्षत्र, सिद्ध-योग, सोमवार में, शीतलनाथ दिगंबर जैन मंदिर जयप्रकाशनगर, पुट्टेनहल्लिग्राम, बैंगलूर, कर्नाटक प्रदेश में प्रातःकाल मंगल और आनन्द सहित सम्पूर्ण हुआ।

संसाररूपी गहनांधकारमय वन में व्यसनरूपी विषधरों से, पापरूपी कुंजरों से, कषायरूपी पुलिंदों (भीलों) से, संक्लेशता रूपी कांटों से, मिथ्यात्वरूपी दलदल से, अव्रतरूपी विषाक्त फलों से भव्यवर-पुण्डरीक-जीवों की रक्षा करनेवाला यह धर्मग्रन्थ सदा जयवन्त हो।

जिस प्रकार पुष्पों के मकरंद के पान से सुन्दर-कृष्णवर्णी भौंरा संतृप्त होता है, ठीक वैसे ही सम्यग्धर्मरूपी मकरंद के पान से भव्यरूपी भौंरे संतुष्ट होते हैं॥1॥

मुझ अल्पज्ञ आदित्यसागर के द्वारा इस धर्मविषयक ग्रन्थ में यदि किंचिद् भी दोष दृष्टिगोचर होता है तो शुद्धदृष्टि से युक्त श्रुतसमृद्धसाधुवृंद उसका शोधन करें॥2॥

मैं जिनेन्द्रदेव के, जिनेन्द्रदेव के, जिनेन्द्रदेव के सम्यक्शासन को नित्य ही, सदा ही, नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ॥3॥

परमोपकारी गुरुवर, लोकप्रसिद्ध, श्रमण, दृढ़-साधक, भवसागर-तारक, अध्यात्मयोगी, सारस्वत, गंभीर, संवेगी, समंतभद्र अर्थात् सभी ओर से भद्र, प्रायश्चित्तविद्या में प्रवीण तथा अनेकों धर्मग्रंथों के उपदिष्टा आचार्य देव विशुद्धसागर जी युगों युगों तक जयवन्त हों॥4-5॥

॥ इस प्रकार धर्म-शतक अपरनाम धर्ममकरंद नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ॥

मूलग्रन्थ-गाथानुक्रमणिका

गाथांश	गाथा संख्या	पृष्ठ
''अ''		
अट्ठट्ठा अट्ठा वा	5	8
अरुहादो सुदंसणं	24	44
अहवा दुविहो धम्मो	22	42
''इ''		
इट्ठ-विहूणा इत्थी	88	108
''ए''		
एगं दुविहं तिविहं	17	35
एगं दो पंचविहं	13	29
''क''		
कदावि तिरिया पूया	36	57
कप्पेहि लहदि जीवो	45	67
कम्मादाण-णिमित्तं	16	34
कम्मादो बीहेज्जा	101	120
कादूण णमुक्कारं	3	5
किं बहुणा जपेमि य	99	118
कुकम्मादो विणासदि	34	55
केवल-माणव-धम्मो	64	86
''ख''		
खमा य मद्दव-अज्जव	21	40
''च''		
चक्खूहिं णवि दिस्सदि	35	56
चारित्त-हीण-समणा	86	108
चेयण्ण-रूव-बीयं	40	61
''छ''		
छत्तं विणा ण छाया	85	107
''ज''		
जड-चेयणाण गमणे	38	59
जण-रट्ठ-रज्ज-धम्मा	100	119
जस्स समीवे धम्मो	46	68
जह जह पसंसणीयो	91	110
जहदिढ सोवाणेहिं	84	106
जह मंडू-मरणादो	79	101
जहा धणं संधत्ते	15	33
जाणे वत्थुसरूवं	12	28
जाव ण खीणदि आऊ	73	95
जिणवयणं कलुसहरं	2	3
जीवो धम्म-विरहिदो	54	76
जो जो धारदि धम्मं	32	53
जो परदुक्खे हरिसदि	56	78
जं जाणदि तं णाणं	14	31
जं जं ण किदं अज्जं	97	116
जं धम्मं णर-गणहर	104	123
''ण''		
णवि करदि भेदभावं	31	52
णवि दिस्सदि जह वाऊ	81	103
णवि धम्म-पालणं तो	57	79
णवि पुण कुणदु कसायं	50	72
णवि लहदि मोक्खलच्छिं	23	43
णाणं णरस्स सारो (सम्मं वरस्स)	18	37

गाथांश	गाथा संख्या	पृष्ठ
णिहिल-दव्वाण धम्मो	20	39
णीचपाव-किरियाहिं	69	91
''त''		
तावं हि तस्स रक्खा	71	93
''द''		
देविंद-देववग्गो	95	112
''ध''		
धण्णादो वरदेसो	66	88
धम्मसोहस्स थंभा	75	97
धम्मस्स पहावादो	92	112
धम्मस्स पहावादो	93	112
धम्मादु पुण्ण-वड्ढी	62	84
धम्मो त्थि चित्तभाणू	78	100
धम्मो वत्थुसहावो	27	47
धम्मो हि कप्परुक्खो	65	87
धम्मेणं दुट्ठाणं	103	122
धम्मेण विणा णत्थि	96	115
धम्मं कम्म-अमित्तं	33	54
''प''		
पयसम्हि णेव धम्मो	60	82
पाणीणं संपाणं	37	58
पुण्ण-किरियाउ धम्मो	52	74
पुण्णुज्जमेहिं धम्मो	39	60
''फ''		
फलवंछं णवि कुज्जा	49	71
''ब''		
बीयं दुमस्स मूलं	9	25
''भ''		
भव्व-जीवस्स चित्ते	72	94
भासिय-सम्मदंसणं	6	9
''म''		
मत्त-पमत्तुम्मत्ता	68	90
मद-रहिदो विण्णाणी	90	110
मयफला इहो रक्खो	67	88
मुच्छिदो विसय-विसादु	70	92
मूढ-भय-मणायदणं	7	14
मूलोत्तर-वेरग्गं	8	15
मंती-सहिदं रज्जं	89	110
''र''		
रक्खेमु ण मो धम्मं	58	80
रयणेसुं वररयणं	77	99
रागाणं रोगाणं	48	70
''व''		
वड्ढेदि विउल-रागो	61	83
वर-धम्माचरणादो	76	98
वरबीयं खोणीए	82	104
वरभाव-चित्त-बंधू	42	63
वादविवादप्पमादं	26	46
वाणीए सियवादं	63	85
विणा कुलजादि-भेदं	80	102
विणा ववहार-धम्मं	98	117
''स''		
सच्चमहिंसा करुणा	29	49
सड्ढाए पीदीए	105	124
सम्मत्तरूव-रयणं	10	26
सम्मत्त-सहिद-मेत्तं	11	27
सम्मद्दंसण-णाणं	04	6

गाथांश	गाथा संख्या	पृष्ठ
सम्मं णरस्स सारो	18	37
सम्मं धम्मे जीवो	41	62
सयलेसुं सत्तेसुं	30	51
सव्वुक्किट्ठं धम्मं	43	65
सव्वं किरियाकंडं	51	73
सामण्णं संधारदि	55	77
सावगा होह समणा	102	121
सिज्झंति चरियभट्ठा	19	38
सिद्धे वरधम्मजुदे	1	1
सियवादणाणदो वा	25	45
सिरि-थी-जीवणरागे	74	96
सिवदाणं भवहरणं	53	75
सिस्स-विहूणा सूरी	87	108
संणाहो संरक्खदि	83	105
संवड्ढण-संरक्खण	59	81
संसारकाणणे किल	44	66
संसिद्धि-मूलधम्मो	47	69
''ह''		
हलाहल-ममियरूवं	94	112
हिंसाए रक्खाए	28	48

श्रुतसंवेगी विशुद्धरत्न मुनि श्री आदित्यसागर जी द्वारा रचित साहित्यश्रम

I मौलिक रचना साहित्य–

- **प्राकृत भाषा में–**

1. **णीदि रहस्सं** (नीति रहस्य)
2. **णीदि-पाहुडं** (नीति-प्राभृत)
3. **णीदि-सुत्तं** (नीति-सूत्र)
4. **णीदि-विज्जा** (नीति-विद्या)
5. **आदकित्तणं** (आत्मकीर्तन)
6. **धम्म-सदगं** (धर्म-शतक)
7. **सिक्खा-सुत्तं** (शिक्षा-सूत्र)
8. **जीवण-सुत्तं** (जीवन-सूत्र)
9. **संति-थुदी** (शान्ति-स्तुति)
10. **रिट्ठणेमि-थोत्तं** (अरिष्टनेमि-स्तोत्र)
11. **भारहेस-थुदी** (भरतेश-स्तुति)
12. **णवागढ-णंउदर-थुदी** (नवागढ़-नंदपुर-स्तुति)
13. **कम्मरोगहरं-थोत्तं** (कर्मरोगहर-स्तोत्र)
14. **मंगल-थोत्तं** (मंगल-स्तोत्र)
15. **सुद्धप्प-वंदणा** (शुद्धात्मवंदना)
16. **णमोत्थुसासण-थुदी** (नमोस्तुशासन-स्तुति)
17. **उसहदेव-थुदी** (वृषभदेव-स्तुति)
18. **अजियदेव-थुदी** (अजितदेव-स्तुति)
19. **संभवदेव-थुदी** (संभवदेव-स्तुति)
20. **अहिणंदणदेव-थुदी** (अभिनंदनदेव-स्तुति)
21. **सुमइदेव-थुदी** (सुमतिदेव-स्तुति)
22. **पउमदेव-थुदी** (पद्मदेव-स्तुति)
23. **सुपासदेव-थुदी** (सुपार्श्वदेव-स्तुति)
24. **चंददेव-थुदी** (चन्द्रदेव-स्तुति)
25. **पुप्फयंतदेव-थुदी** (पुष्पदंतदेव-स्तुति)
26. **सीयलणाह-थुदी** (शीतलनाथ-स्तुति)
27. **सेयदेव-थुदी** (श्रेयांसदेव-स्तुति)
28. **वासुपुज्जदेव-थुदी** (वासुपूज्य-स्तुति)
29. **विमलदेव-थुदी** (विमलदेव-स्तुति)
30. **अणंतदेव-थुदी** (अनंतदेव-स्तुति)
31. **धम्मदेव-थुदी** (धर्मदेव-स्तुति)
32. **संतिदेव-थुदी** (शान्तिदेव-स्तुति)
33. **कुंथुदेव-थुदी** (कुन्थुदेव-स्तुति)
34. **अरदेव-थुदी** (अरदेव-स्तुति)
35. **मल्लिदेव-थुदी** (मल्लिदेव-स्तुति)
36. **मुणिसुव्वय-थुदी** (मुनिसुव्रत-स्तुति)
37. **णमिदेव-थुदी** (नमिदेव स्तुति)
38. **णेमिदेव-थुदी** (नेमिदेव-स्तुति)
39. **पासदेव-थुदी** (पार्श्वदेव-स्तुति)
40. **वीरदेव-थुदी** (वीरदेव-स्तुति)
41. **विरागट्ठगं** (विरागाष्टक)
42. **विमस्स-वंदणा** (विमर्श-वंदना)

- **संस्कृत भाषा में–**

43. **आदिविद्या-स्तुतिः**
44. **सत्यार्थनीतिः**
45. **हितमणिमाला**
46. **सद्भावना-पंचविंशतिः**
47. **जिनशासन-सहस्त्रनाम**
48. **सरस्वती-बृहन्नाम-स्तोत्रम्**
49. **अरिष्टनेमिनाथ-स्तोत्रम्**
50. **शासनालंकार-स्तोत्रम्**
51. **जिनबिम्ब-स्तोत्रम्**
52. **जिनदेवाष्टक-स्तोत्रम्**
53. **आदिवीर-शंकर-स्तोत्रम्**
54. **वर्धमान-कर्मशंकर-स्तोत्रम्**
55. **वृषभादि-मंगलाष्टकम्**
56. **समन्तभद्र-स्तोत्रम्**

57. **निजानन्द-स्तोत्रम्**
58. **स्तुत्यष्टकम्**
59. **नेमिनाथ-स्तोत्रम्**
60. **पार्श्वनाथ-स्तवनम्**
61. **शान्ति-स्तवनम्**
62. **अयिगिरि-सरस्वती-स्तुतिः**
63. **गोम्मटेश-स्तुतिः**
64. **विशुद्धगुरु-स्तोत्रम्**
65. **स्तोत्र-संग्रहः**

• **अपभ्रंश भाषा में–**

66. **वारसाणुवेक्खु (द्वादशानुप्रेक्षा)**

• **हिन्दी भाषा में–**

67. **भक्तामर-विधान**
68. **आध्यात्मिक प्रबंधन**
69. **गुरु-शिष्य (भाग-1)**
70. **गुरु-शिष्य (भाग-2)**
71. **गुरु-शिष्य (भाग-3)**
72. **गुरु-शिष्य (भाग-4)**
73. **अनुपमेय-माँ**
74. **मृत्यु**
75. **पथ**
76. **अपनी आवाज**
77. **अंतर्यात्रा**
78. **अंतर्जल्प**
79. **अंतर्ध्वनि**
80. **अंतर्मुखी**
81. **अंतर्मन की बातें**
82. **अपने लिये**
83. **जीवन-नीति**
84. **संदेश**
85. **ॐ इग्नोराय नमः**
86. **घोर इग्नोराय नमः**
87. **दृष्टान्त से स्वान्त**
88. **शान्तता ठेवा**
89. **सही-बातें** (उड़ान, अनुभव आदि 137. 50 भागों में)

II अनुवादित रचना साहित्य–

• **प्राकृत भाषा में–**

138. **सोलहकारण भावणा-अणुसीलणं** (सोलहकारण भावना अनुशीलन 12,000 श्लोक प्रमाण)
139. **इट्ठोवएस-भासं** (इष्टोपदेश भाष्य 3575 श्लोक प्रमाण)
140. **सरूवसंबोहण-परिसीलणं** (स्वरूप संबोधन-परिशीलन 3975 श्लोक प्रमाण)
141. **समाहितंत-अणुसीलणं** (समाधितंत्र-अनुशीलन 5511 श्लोक प्रमाण)
142. **साणुहव-तरंगिणी** (स्वानुभव-तरंगिणी 1011 श्लोक प्रमाण)
143. **णियाणुहव-तरंगिणी** (निजानुभव-तरंगिणी 2300 श्लोकप्रमाण)
144. **अप्पबोहो** (आत्मबोध 1635 श्लोक प्रमाण)
145. **रयणत्तयवड्ढिणी टीगा** (रत्नत्रयवर्धिनी टीका 8656 श्लोक प्रमाण)
146. **सच्चत्थबोहो** (सत्यार्थबोध-4000 श्लोक प्रमाण)
147. **कम्मविवागो** (कर्मविपाक/कार्याधीन)
148. **णियमदेसणा** (नियमदेशना/कार्याधीन)
149. **अज्झप्प-णीदी** (अध्यात्म-नीति 450-श्लोक प्रमाण)
150. **बोधवाक्यामृत**
151. **सूक्तिसुधा**
152. **दिव्व-वयणं** (दिव्यवचनं)
153. **भव्व-वयणं** (भव्यवचनं)
154. **सुद्धोवआगो** (शुद्धोपयोगः/कार्याधीन)

• **संस्कृत भाषा में–**

155. **आत्मबोधः**

• **अपभ्रंश भाषा में–**

156. **अप्पबोहु**

157. **बोध-वाक्यामृतं**
158. **सूक्ति-सुधा**
- **कन्नड़ भाषा में–**

159. **सरस्वती-स्तोत्रम्**
160. **उवसग्गहरं थोत्तं**
161. **गणधरवलय-स्तोत्रम्**
162. **श्री परमर्षि स्वस्ति-मंगल-स्तोत्रम्**
163. **सीयलेस-थोत्तं**
164. **निर्ग्रन्थ-गुरु-पूजा**
- **हिन्दी भाषा में–**

165. **झाणज्झयण-पाहुड** (श्रीमत्कुंदकुंदाचार्य कृत)
166. **सुभाषितार्णव** (अज्ञातकृत 1300 से अधिक श्लोक प्रमाण)
167. **गणधरवलय-स्तोत्र**

III संकलित साहित्य–

168. **देशना-बिंदु**
169. **देशना-संचय**
170. **तत्त्वबोध**
171. **तत्त्वतरंगिणी**
172. **वंदना-पथ**
173. **पुरानी बातें** (भाग-1)
174. **पुरानी बातें** (भाग-2)
175. **कर्मरहस्य** (भाग 1-2)
176. **तीर्थंकर विज्ञान**
177. **संकल्प**
178. **आदिच्च-किरिया-सायरो** (हिन्दी प्राकृत क्रियाकोश)
179. **आदिच्च-अव्यय-सायरो** (हिन्दी प्राकृत अव्ययकोश)
180. **व्यसन-रहस्य**
181. **पुरानी बातें (भाग-3)**

IV संपादित साहित्य में–

- **भावत्रयफलप्रदर्शी** (आचार्य कुंथुसागर जी कृत)
- **धर्मपरीक्षा** (आ. अमितगतिस्वामी कृत)
- **तच्चबोहो** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **विसुद्धवयणामिदं** (श्रमण अप्रमित-सागर द्वारा अनुवादित)
- **सारसुत्तं** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **बोहिसुत्तं** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा अनुवादित)
- **मर्यादा** (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा रचित)
- **साधुवचनं** (हाईकू) (श्रमण अप्रमितसागर द्वारा रचित)
- **विशुद्ध-निधि** (श्रमण आस्तिक्यसागर जी कृत)
- **सम्मग्ग-चिंतणं** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **मनन** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **परिवर्तन** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **शब्द अपने** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)
- **मंथन** (श्रमण अप्रमितसागर जी कृत)

पूज्यवर अभी तक लगभग 40,000 श्लोक प्रमाण प्राकृत/संस्कृत/श्लोक रचना/अनुवाद कर चुके हैं। प्रायः करके लिपिबद्ध साहित्य अभी अप्रकाशित है, लगभग 70 कृतियाँ ही प्रकाशित हैं। हम प्रयासरत हैं कि शीघ्रातीिघ्र समग्र साहित्य प्रकाशित होकर पाठकों को प्राप्त हो।

—समर्पण समूह, भारत